मेहरचंद्र लक्ष्मणदास हिन्दी-पुष्पमाला—नं० १८

संसार के स्त्री-रत्न



लेखक

साधुराम एम. ए.

प्रोफ़ेसर, किनियर्ड कालेज फ़ॉर विमन

लाहौर



प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

संस्कृत हिंदी पुस्तक विक्रेता

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

अगस्त, १९३८

प्रकाशक

लाला तुलसीराम जैन, मैनेजिंग
प्रोप्राइटर, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास,
संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक

लाला ख़ज़ानचीराम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

भूमिका

आजकल समानाधिकार का युग है । सिद्धान्त-रूप से समानाधिकार की बात को सभी क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया गया है। संसार के सभी देशों की स्त्रियाँ भी आजकल अपने अधिकारों की समानता के लिए प्रबल आन्दोलन कर रही हैं। बहुत-से देशों में उन्हें समानाधिकार मिल भी गए हैं। उन देशों में स्त्रियाँ अब पुरुषों के समान सभी तरह के काम करती हैं। आज से कुछ ही वर्ष पहले तक स्त्रियों को कोमलांगी समझा जाता था और इस तरह के अनेक कार्य थे, जिनके लिए स्त्रियाँ अनुपयुक्त समझी जाती थीं। उदाहरणार्थ—सैनिक का कार्य, हवाई जहाज और मोटरें चलाने का कार्य, सैनिक कर्तव्य आदि पेशों में न तो कोई स्त्री जाती थी और न उनको इन कार्यों में लिया ही जाता था परन्तु अब वह बात ही नहीं रही। संसार की साहसी स्त्रियाँ अब सभी क्षेत्रों में मर्दों की होड़ करने लगी हैं। यहाँ तक कि वे अब कठिनतम प्रतियोगिताओं में पुरुषों का मुकाबला करने लगी हैं। संसार के अनेक देशों में अब स्त्रियों को भी बाकायदा सैनिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

सम्भवतः इन्हीं सब बातों को देखकर इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता तथा विचारक एच० जी० वेल्स ने अपने एक लेख में यह भय

प्रकट किया है कि कहीं स्त्री-पुरुष की समानता का यह आन्दोलन बढ़ते-बढ़ते कभी इतना न बढ़ जाय कि उसके द्वारा समाज की मूल-भित्ति परिवार-संस्था ही नष्ट न हो जाय।

इन परिस्थितियों में यदि आप से कहा जाय कि आज से कुछ सदियाँ पूर्व संसार के अनेक सभ्य देशों में इस विषय पर खुला वादविवाद होता था कि पुरुषों के समान स्त्रियों में भी आत्मा है या नहीं, तो सम्भवतः आप इस हास्यजनक बात पर विश्वास ही न करें।

महिला-जागृति-आन्दोलन का यह रूप, यों ही बिलकुल अचानक और अपने आप नहीं बन गया। स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने के लिए बहुत-सी महिलाओं ने आजीवन और अनवरत प्रयत्न किया है। संसार के इतिहास में बहुत-सी महिलाएँ ऐसी हुई हैं, जिनके चरित्र और जिनकी योग्यता से प्रभावित होकर सैकड़ों-हजारों पुरुषों को स्त्रियों का सिक्का मानना पड़ा।

भारतवर्ष में महिला-जागृति-आन्दोलन अभी पनप ही रहा है। इन परिस्थितियों में संसार के ऐतिहासिक स्त्री-रत्नों के चरित्र का अध्ययन हमारे देश के बालक-बालिकाओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, यही सोचकर मैंने यह पुस्तक लिखी है। आशा है, हिन्दी-जगत् मेरे इस प्रयत्न का आदर करेगा।

साधुराम

सूची

संसार के स्त्री-रत्न

जोन ऑफ़ आर्क

फ्राँस के 'लोरेन' प्रान्त की जंगली पहाड़ियों में एक छोटा सा ग्राम था। वहाँ जैक्स डार्क नाम का एक किसान रहता था। जोन ऑफ आर्क उसकी बीस साल की एक इकलौती बेटी थी। बचपन से वह अकेली ही पली थी। घने जंगलों में, जहाँ मनुष्य का नाममात्र भी दिखाई नहीं पड़ता था, वह भेड़ें और ढोर चराया करती थी। गाँव के छोटे से सूने और अँधेरे गिरजे में वह झुकी हुई घण्टों तक प्रार्थना में मग्न रहती। एक टिमटिमाता हुआ दीपक उसका साथी होता। उस तन्मयता की दशा में उसे वेदी पर कई प्रकार के छायारूप दिखाई पड़ते और कई बार उसे ऐसा प्रतीत होता मानो वे उससे बातें कर रहे हैं। उन दिनों ग्रामीण लोग मूढ़ और अंधविश्वासी हुआ करते थे। बहुधा वे लोग स्वप्न में अथवा धुन्ध और वर्षा के दिनों सूनी पहाड़ियों में देखे हुए भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाया करते थे। उन्हें विश्वास हो गया कि भूत-प्रेत ही जोन औफ़

आर्क को दर्शन देते और उससे बातें करते हैं।

एक दिन जोन ऑफ़ आर्क ने अपने पिता से कहा—'मुझे आज अचानक ही एक अलौकिक ज्योति दिखाई पड़ी थी, जिसके पश्चात् एक आकाश-वाणी हुई—'मैं सेंट माईकल तुझे यह आदेश देता हूँ कि जाकर डौफ़िन की सहायता कर!'

इस घटना के पश्चात् जोन को बार बार वह वाणी सुनाई पड़ती और सर्वदा यही आदेश देती—'जोन! तुझे यह दैवी आज्ञा है कि जा और डौफ़िन की सहायता कर!'। जब भी गिरजे की घण्टी बजती, जोन के कानों में यही आदेश गूँजने लगता।

जोन को वह छायारूप और शब्द सचमुच ही दिखाई और सुनाई पड़ते थे, क्योंकि यह एक प्रकार का रोग है, जिससे मनुष्य को आकार और शब्दों का मिथ्या आभास होने लगता है। जोन आरंभ से ही एक उद्विग्न और चिन्तनशील लड़की थी। स्वभाव की अच्छी होने पर भी वह कुछ गर्वित थी और चाहती थी कि लोगों में ख्याति भी प्राप्त कर ले।

उसका पिता साधारण लोगों से कुछ अधिक बुद्धिमान् था और सर्वदा जोन को यही कहता—'बेटी, जाने दे। यह केवल तेरी कल्पनामात्र है। मैं तेरा विवाह किसी भले पुरुष से कर दूँगा, जिससे तेरा मन बदल जायगा और ऐसी काल्पनिक उलझनों में नहीं पड़ेगा'। परंतु जोन केवल एक ही उत्तर देती—'पिता जी, मैंने शपथ ले रखी है कि विवाह कभी नहीं करूँगी और दैवी-आज्ञा के अनुसार डौफ़िन की सहायता करने के लिये अवश्य जाऊँगी।'

दुर्भाग्यवश जब जोन के मन की अवस्था ऐसी हो रही थी, डौफ़िन के शत्रुओं का एक दल उस ग्राम में आ निकला, जिसने गिरजे को आग लगाकर ग्रामवासियों को ग्राम से बाहर निकाल दिया। उन लोगों के अत्याचारों को देखकर जोन के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और उसका रोग और भी अधिक बढ़ गया। वह कहती—'अब तो वे रूप और शब्द सदा मेरे साथ ही रहते हैं और कहते हैं कि प्राचीन आकाश-वाणी के अनुसार मैं ही फ्राँस की रक्षा करूँगी। मुझे अवश्य डौफ़िन की सहायता के लिये जाना चाहिए और जब तक रीम्स नगर में उसका राज्याभिषेक न हो ले, तब तक मुझे उसके साथ ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिये मुझे एक दूर स्थान पर लॉर्ड बद्रीकोर के पास जाना होगा, जो डौफ़िन से मेरा परिचय करा देगा।'

उसका पिता बहुत समझाता रहा—'जोन बेटी, ये तेरे स्वप्न सब भ्रममूलक ही हैं।' पर वह न टली और अपने चचा के साथ लॉर्ड बद्रीकोर की खोज में चल पड़ी। उसका चचा बहुत निर्धन था। वह ग्राम में बढ़ई का काम किया करता था। पर उसे जोन के स्वप्नों में पूरी श्रद्धा थी। वे दोनों विषम मार्ग की कठिनाइयाँ झेलते हुए चोर, डाकू और उपद्रवियों से बचते बचाते अंत में लॉर्ड बद्रीकोर के ग्राम में जा पहुँचे।

जब लॉर्ड बद्रीकोर के भृत्यों ने अपने स्वामी को बताया कि उसे मिलने के लिये जोन ऑफ़ आर्क नाम की एक कृषक कन्या अपने ग्रामीण चचा को साथ लेकर आई है और कहती है—'मुझे

दैवी-आज्ञा मिली है कि डौफ़िन की सहायता करके फ्रांस की रक्षा करूँ' तो वह ठहाका मारकर हँस पड़ा और उन्हें आज्ञा दी कि उस कन्या को कहो 'वह लौट जाय, मैं उससे नहीं मिल सकता।'

पर जब उसने सुना कि वह लड़की ग्राम में इधर-उधर घूमती फिरती है, गिरजाघरों में उपासना करके देवताओं का साक्षात्कार करती है और किसी को भी हानि नहीं पहुँचाती, तो उसने उसे बुला भेजा और उससे कई प्रकार के प्रश्नोत्तर किये। फिर जब पवित्र जल (holy water) छिड़कने के पश्चात् भी जोन ने उसके प्रश्नों का वही उत्तर दिया, जो पहले दिया था तो बद्रीकोर को उस पर विश्वास होने लगा। उसने सोचा कि इसे चिनोन, जहाँ आजकल डौफ़िन रहता हैं, भेजने में हानि ही क्या है? यह सोचकर बद्रीकोर ने जोन को एक घोड़ा, एक खड्ग और पहुँचाने के लिये दो भृत्य साथ दे दिए।

छायारूपों की आज्ञानुसार जोन ने पुरुष का वेष धारण कर लिया और खड्ग को कटि से बाँध घोड़े पर चढ़कर नौकरों के साथ हो ली। उसका चचा अपने गाँव को लौट गया।

चलते चलते वे चिनोन जा पहुँचे, जहाँ जोन को डौफ़िन के सामने लाया गया। राजसभा में उसने झट डौफ़िन को पहचान कर उससे कहा—'मुझे दैवी-आज्ञा हुई है कि शत्रुओं को परास्त करने में आपकी सहायता करूँ और रीम्स नगर में आपका राज्याभिषेक करवा दूँ'। यह सुनकर डौफ़िन ने बड़े बड़े पादरियों को इकट्ठा कर उनसे पूछा कि देखो यह लड़की दैवी प्रेरणा से

आई है अथवा दानवी। पादरियों ने इस विषय में बहुत बड़ा शास्त्रार्थ और तत्त्वविवेचन आरंभ कर दिया, जिसमें कई विद्वान् तो मीठी नींद सोकर खुर्राटे लेने लगे। अन्त में एक बूढ़े पादरी ने जोन से पूछा—'तुझे दैव-वाणी किस भाषा में होती है ?' जोन ने उत्तर दिया—'आपकी भाषा से मधुरतर भाषा में।' इस पर सभी ने संतोष प्रकट किया और कहा कि जोन को दैवी प्रेरणा ही हुई है, दानवी नहीं। इस अद्भुत घटना को सुनकर डौफ़िन के योद्धाओं में नई शक्ति का संचार हो गया और उनका उत्साह बढ़ गया। परन्तु अंग्रेज़ी सेना इस वृत्तान्त को सुनकर हतवीर्य और शिथिल हो गई और जोन को चुड़ैल समझने लगी।

अब जोन एक बार फिर घोड़े पर चढ़ी और ओर्लियन की ओर चल दी। यह दृश्य बड़ा रोमांचकारी था। एक किसान लड़की चमकता हुआ कवच पहने, कटि से झिलमलाती हुई खड्ग लटकाए, श्वेत घोड़े पर डटी हुई बड़े गर्व से जा रही थी और उसके आगे आगे पदचरों के हाथ में श्वेत ध्वजा लहरा रही थी जिसके पट पर ईश्वर की मूर्ति अंकित थी और साथ साथ जीसस और मेरी के नाम भी लिखे हुए थे। इस समारोह के साथ बड़ी भारी सेना के नेतृत्व में भूखे पौरजनों के लिये अन्नादिक लिये हुए जोन शत्रुओं से घिरे हुए ओर्लियन नगर के पास जा पहुँची।

जब प्राकार पर बैठे हुए ओर्लियन-निवासियों ने उसे देखा तो वे हर्ष से चिल्ला उठे—'देवी आ गई। आकाशवाणी के अनुसार हमारी रक्षा के लिये देवी आ गई!'

इस कोलाहल को सुनकर और सेना के अग्रभाग पर उस वीरांगना को लड़ते हुए देखकर अंग्रेज़ योद्धाओं के छक्के छूट गए और उनके सभी नाके टूट गए । जोन की सेना खाने पीने की सामग्री लेकर नगर में घुस गई और ओर्लियन के लोग बचा लिये गए ।

इस विजय के कारण जोन का नाम 'ओर्लियन की देवी' पड़ गया। वह कुछ दिन नगर के अन्दर ठहरी और अंग्रेज़ सेनापति के नाम पत्र लिखकर प्राकार के ऊपर से गिरवाए। उन पत्रों में जोन ने सेनापति को आदेश दिया था कि दैवी इच्छा के अनुकूल वह अपनी सेना लेकर वहाँ से लौट जाय । पर अंग्रेज़ सेनापति डटा रहा और उसने जोन को देवदूती मानना स्वीकार न किया। इस पर जोन अपने श्वेत घोड़े पर चढ़कर आगे श्वेत झंडा लहराती हुई लड़ाई के लिये आ पहुँची । उपरोधकों ने अभी तक खाई के पुल और अट्टालिकाओं पर अधिकार जमाया हुआ था। ज़ोन ने आकर यहीं पर आक्रमण किया । चौदह घंटे तक युद्ध होता रहा। जोन अपने हाथ से सीढ़ी लगाकर एक अट्टालिका पर चढ़ रही थी कि गले में शत्रु का बाण लगने से खाई में गिर पड़ी । उसके साथी उसे उठा लाए और गले से बाण निकाल दिया। पीड़ा से विह्वल होकर बेचारी बहुत चिल्लाई, परंतु शीघ्र ही चुप हो गई और कहने लगी—'अब मुझे देववाणी शान्ति और सांत्वना दे रही है'। तत्पश्चात् वह उठकर फिर सेना के आगे जाकर लड़ने लगी। अंग्रेज़ सैनिक, जो उसे मरी हुई समझ

चुके थे, उसे इस प्रकार फिर-से लड़ती हुई देखकर भयभीत हो गए। कई कहने लगे—'फ्राँसीसियों की सहायता में सेंट माइकल को श्वेत घोड़े पर चढ़कर लड़ते हुए हमने स्वयं देखा है।' अंग्रेज़ परिणामतः परास्त हुए, पुल छिन गया, अट्टालिकाएँ भी छिन गईं और दूसरे दिन वह अपने मोर्चों को आग लगाकर भाग गए।

परन्तु अंग्रेज़ सेनापति बहुत दूर न भागा और पास ही जार्गो नाम के एक गाँव में जा छिपा। 'ओर्लियन की देवी' ने उसे वहाँ जाकर घेर लिया और बन्दी बना लिया। जोन जब अपनी श्वेत पताका के साथ प्राकार फाँद रही थी, तब एक पत्थर उसके सिर में लगा और वह फिर खाई में गिर पड़ी। पर वह खाई में गिरी हुई भी यही चिल्लाती रही—'बढ़ते चलो, मेरे देश-वासियो ! आगे बढ़ते चलो !'

इस विजय के पश्चात् अंग्रेज़ों ने बहुत से दुर्ग बिना युद्ध किये ही डौफ़िन को लौटा दिये। पेटे (Patay) के स्थान पर जोन ने बची-खुची अंग्रेज़ी सेना को भी खदेड़ दिया और उस भूमि पर, जहाँ बारह सौ अंग्रेज़ सैनिक खेत रहे थे, अपनी विजय-पताका गाड़ दी।

अब उसने डौफ़िन से (जो रणभूमि से सदा दूर ही रहता था) रीम्स नगर में जाने का अनुरोध किया। उसने कहा—'मेरे उद्देश्य का एक अंश तो सफल हो गया है। आपके शत्रु परास्त हो चुके हैं। अब आपको केवल राज-तिलक देना शेष है।' यद्यपि डौफ़िन रीम्स में जाने से डरता था, क्योंकि एक तो रीम्स बहुत दूर था,

दूसरे जिन प्रदेशों से मार्ग जाता था, वहाँ बर्गंडी के ड्यूक और अंग्रेज़ों का बहुत प्रभाव था। तथापि वह दस हज़ार सैनिकों के साथ चल पड़ा। 'ओर्लियन की देवी' अपने श्वेत घोड़े पर चमकदार कवच पहने सब से आगे आगे जा रही थी। मार्ग में जहाँ कहीं भी उनके ऊपर आपत्ति आती, सैनिक अधीर हो जाते और जोन पर संदेह करके उसे पाखण्डिनी समझने लगते।

अंत में ओर्लियन की देवी, डौफ़िन और उसके अनुचरों के साथ रीम्स में पहुँच गई। वहाँ जाकर नगर के बड़े गिरजाघर में सारी जनता के संमुख राज-तिलक देकर डौफ़िन को चार्लस सप्तम की उपाधि दी गई। उस विजयोत्सव के समय जोन श्वेत पताका लिये राजा के पास ही खड़ी थी। अपने उद्देश्य को सफल हुआ जान कर वह राजा के चरणों में झुककर बोली—'देव! मैंने दैवी आज्ञा का पालन कर दिया है। अब मुझे अपने बाप और चचा के पास लौटने की आज्ञा दीजिए।' परंतु राजा ने उसे जाने न दिया और परिवार-सहित उसका संमान करके उसे एक काउँट के तुल्य संपत्ति की अधिकारिणी बना दिया।

क्या ही अच्छा होता, जो 'ओर्लियन की देवी' अपने ग्राम को लौट आती और पुनः ग्रामीण वेष धारण करके उसी छोटे से गिरजे में पूजा किया करती और उन्हीं पहाड़ियों पर ढोर चराया करती! पिछली सारी घटनाओं को भूलकर किसी सज्जन पुरुष से विवाह कर काल्पनिक दैवी वाणी के स्थान पर नन्हे-नन्हे बच्चों का कलरव सुना करती!

परंतु ऐसा होना न बदा था। वह निरंतर राजा की सहायता करती रही, उसके उजड्ड सैनिकों का सुधार करती रही और स्वयं निष्काम भाव से तपस्या का जीवन व्यतीत करती रही। उसने कई बार राजा से विदा माँगी, यहाँ तक कि एक बार अपना चमकीला कवच उतार कर गिरजाघर में लटका दिया और निश्चय किया कि उसे फिर न पहनूँगी। पर भावी को कौन टाल सका है ? राजा के अनुनय-विनय से विवश होकर वह उसे छोड़ न सकी।

जब ब्रेडफ़ोर्ड के ड्यूक ने बर्गंडी के ड्यूक से संधि करके इंग्लैंड के पक्ष में लड़ना आरंभ कर दिया और चार्ल्स सप्तम का नाक में दम कर दिया, तो चार्ल्स कभी कभी जोन से पूछ बैठता—'अब दैवी वाणी तुम्हें इस विषय में क्या कहती है ?' परंतु जोन कभी कुछ और कभी कुछ सुनती थी। परस्परविरोधी और संकीर्ण प्रलाप सुनने के कारण जोन पर से राजा का विश्वास उठता गया। कुछ समय के पश्चात् चार्ल्स ने पेरिस की ओर प्रयाण किया और सेंट ओनोर (St. Honore) के आसपास के स्थानों पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में आहत होकर 'देवी' एक बार फिर खाई में गिर पड़ी। परंतु इस संकट में सारी की सारी सेना ने ही उसका परित्याग कर दिया। बेचारी लोथों के ढेर में निःसहाय पड़ी थी। जैसे-कैसे निकलकर उसने अपनी जान बचाई। पर अंत में बर्गंडी के ड्यूक ने जब केम्पेन (Campiegne) को घेर रखा था, वह वीरता से सब से आगे लड़ती हुई पकड़ी गई। सारी सेना भाग गई और उस अकेली को पीछे छोड़ गई।

इस क्षुद्र-सी एक किसान लड़की के पकड़े जाने पर जो कोलाहल मचा, जो ईश्वर का धन्यवाद गान किया गया, उसके क्या कहने! कोई कहता—'यह चुड़ैल है, इसे इन्क्विज़िटर फ्राँस के जनरल से दण्ड दिलाना चाहिए।' दूसरा कहता—'यह जादूगरनी है, यह नास्तिक है, इसे अमुक राज्याधिकारी के सामने ले जाना चाहिए।' किंबहुना, जितने मुँह उतनी ही बातें सुन सुन कर कलेजा काँपता था। अन्त में दस हज़ार फ्राँक शुल्क देकर बोवे के बिशप (Bishop of Beauvais) ने उसे मोल ले लिया और एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिया। अब उसे 'देवी' कौन कहता! वही जोन ऑफ़ आर्क अब एक दीन हीन दुःखिया लड़की थी!

जो जो अत्याचार जोन पर किए गए, उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय। बड़े बड़े पंडितों और विद्वानों ने अपनी सारी प्रतिभा उसके निरीक्षण, परीक्षण और पर्यवेक्षण में ही लगा दी और न जाने उस बेचारी से क्या क्या कहलवा लिया। सोलह बार उसे काल कोठरी से बाहर लाया गया और सोलह बार ही फिर बन्द कर दिया गया। वाद-विवाद, यातना, प्रतारणा आदि से वह इतनी ऊब गई कि जीवन भी दूभर हो गया। अन्त में उसे गले में सूली बाँध कर दण्डपाशिक के साथ रूएँ (Rouen) की श्मशान भूमि में लाया गया। वहाँ एक ऊँची वेदी पर चढ़कर एक पादरी ने बड़ा भीषण व्याख्यान दिया। परन्तु उस घोर संकट के समय में भी लोगों की गालियाँ सहती हुई वह अपने राजा से विमुख न हुई। उस विश्वास-घातक पातकी नरकीट के पक्ष का उसने

बड़ी वीरता से समर्थन किया।

युवावस्था में भला जीवन किसको प्रिय नहीं होता? उसकी ओर से एक घोषणा लिखी गई कि 'अब तक जो भी अद्भुत मैं देखती सुनती रही हूँ, वह सब दानवी प्रेरणा के कारण था।' वह पढ़ी-लिखी तो थी नहीं। अपनी प्राण-रक्षा के लिये उसने उस घोषणा पर स्वस्तिका-चिह्न के रूप में हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् घोषणा इन्कारी पर और पुरुषवेष धारण करने के लिये हठ करने पर उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। बन्दीगृह में उसके लिये था खाने को शोक और पीने को हृदय का रुधिर!

इस कृच्छ्र अवस्था में उसे फिर वही छायारूप और शब्द दिखाई और सुनाई देने लगे। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि यह रोग उपवास, चिन्ता और एकान्त-वास से बढ़ जाता है। जोन को फँसाने के लिए फिर उससे बलात् कहलवाया गया कि उसे देव-वाणी होती है। उसकी कोठरी में पुरुष के वस्त्र छिपाकर रख दिये गये, जिनको बेचारी ने मनोविनोद के लिए अथवा दैवी आज्ञा के अनुसार पहन लिया। बस फिर क्या था, इस अपराध के लिये उसे जीते जी जलाए जाने का दण्ड दिया गया।

बड़े विकराल वेष में उसे रुएँ (Rouen) की हाट के चौक में लाया गया। कौतुक देखने के लिए चारों ओर आलिन्दों पर पादरी लोग बैठे थे। उनमें से कइयों को इस भयानक दृश्य के देखने का साहस न हुआ और वे उठकर चले गये। अन्त में अंजलि में

स्वस्तिका (क्रास) लिए, क्राइस्ट की दुहाई देती हुई बेचारी निःसहाय किसान कन्या चिल्लाती हुई जलकर राख हो गई।

रूएँ नगर आज तक विद्यमान है। उसमें प्राचीन गौरव के चिह्न अभी तक शेष हैं। जब सूर्य भगवान् उदय होते हैं तो गिरजा-घरों के कलश स्वर्णसमान चमक उठते हैं। उस नगर के एक चौक में जोन ऑफ़ आर्क की अन्तिम वेदना की एक प्रतिमा खड़ी है। आजकल उस चौक का नाम भी जोन ऑफ़ आर्क का चौक पड़ गया है।

हेरिएट टबमैन

जिन दिनों अमेरिका की दक्षिणी रियासतों में 'दासता' का प्रचार ज़ोरों पर था, वहाँ हेरिएट टबमैन नाम की एक हब्शिन रहती थी। उन दिनों दासों पर बड़े बड़े अत्याचार किये जाते थे। बेचारी स्त्रियों का तो कहना ही क्या। उनसे सारा सारा दिन पशुओं से भी बढ़कर काम लिया जाता था। ऐसी घोर परिस्थिति में यही एक वीरांगना हुई है, जिसने अपनी जाति की रक्षा के लिये हज़रत मूसा से कम काम नहीं किया। इसकी कहानी बड़ी रोमांचकारी और वीररसपूर्ण है।

हेरिएट टबमैन अभी तेरह ही वर्ष की थी कि इसने बड़ी वीरता दिखाई। एक ओवरसियर किसी हब्शी दास पर क्रुद्ध हो गया। उसने लोहे का एक बट्टा उठाकर हब्शी के दे मारा। हेरिएट झट भागकर बीच में आ गई। बट्टा बेचारी के सिर में लगा, और इस चोट का असर आयु भर उसके ऊपर रहा।

उसे पीड़ा उठा करती और मूर्च्छा आ जाया करती थी। इस घटना में उसके भावी आत्मत्याग के जीवन की एक झलक दिखाई पड़ती थी।

हेरिएट का सारा यौवन दासता का क्लेश सहने में ही व्यतीत हुआ। दिन रात जितना संभव था, उससे काम लिया जाता था। न खेल, न कूद और न ही विद्याध्ययन के लिये छुट्टी। पूरी नींद भी तो लेनी नसीब नहीं होती थी। न केवल झाड़ू-बुहार आदि स्त्रियों का ही काम वह करती थी, वरन् मनुष्यों की भांति हल भी चलाती, बोझा भी ढोती, लकड़ी भी काटती और बड़े बड़े लट्ठों को भी घसीट कर ले जाती। इतना कष्ट-भरा जीवन व्यतीत करते हुए भी उसने सोचा—'शायद विवाह कर लेने से कुछ सुख मिले।' परन्तु यह उसका भ्रम था। विवाह के पश्चात् उसके पति ने उसकी परवा करनी छोड़ दी। अब बेचारी के लिये जीवन दूभर हो गया। वह वहाँ से भागकर उत्तरीय रियासतों में फिलेडेल्फ़िया को चली गई। वहाँ दासता की घोर घटाएँ इतनी प्रबल नहीं थीं। वहाँ वह स्वतन्त्र और सुरक्षित थी। बेचारी ने कहीं नौकरी कर ली और कुछ पैसा भी बचाने लगी। पर उसके विचार दक्षिण में अपनी सजातीयों की ओर लगे हुए थे, जिनका जीवन सर्वथा उनके स्वामियों के अधीन था। वह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके संतुष्ट न रह सकी। दूसरों के दुःख से व्याकुल हो उठी और अन्त में अपने आपको संकट में डाल दूसरों को मुक्ति दिलाने के लिये दक्षिण लौट आई।

महात्मा मूसा तो दासों की एक बड़ी सेना को एक ही बार मिश्र देश से निकाल लाए थे। पर इस वीरांगना ने उन्नीस बार अफ्रीका से लाए हुए हब्शी दासों के समूहों को दासता से निकाल कर स्वतन्त्र रियासतों में पहुँचाया। वे रात के समय जंगलों और दलदलों में यात्रा करते। एक ओर श्वापदों का भय, दूसरी ओर शिकारी कुत्तों को लिये हुए उनके स्वामी उनका पीछा करते। दोनों ओर मृत्यु सिर पर खड़ी थी। दूध-पीते बच्चों को अफ़ीम देकर सुला दिया जाता, बालकों को किसी न किसी प्रकार साथ घसीटा जाता। पर हेरिएट ने एक बार भी अपने किसी मनुष्य को नहीं खोया। वह अपने गुप्त मार्ग को 'रसातल की रेल-पटड़ी' कहा करती थी। कितना कार्यभार, कितना आत्म-विश्वास और उसका कितना साहस था!

सन् १८५० में भगोड़े दासों का क़ानून (Fugitive Slaves Act) पास हुआ, जिसके अनुसार भागे हुए दासों को पकड़कर उनके पूर्व-स्वामियों के पास ही भेज दिया जाता था। तो यह बेचारी अपने साथियों की रक्षा करने के लिये उन्हें दूर केनेडा तक ले गई।

उसके समकालीन अनेक अमेरिकन महापुरुष उसका बहुत आदर करते थे। उसके मित्रों में से एक तो प्रसिद्ध लेखक इमर्सन (Emerson) था। दूसरा था जोन ब्राउन (John Brown) जिसे हार्पर्ज़ फ़ेरी (Harper's Ferry) में हब्शी-विद्रोह का नायक होने के अपराध में फाँसी दी गई थी। तीसरा विलियम लायड गेरिसन (William Lloyd Garrison) था। इस बेचारे को दासता के

विरुद्ध प्रचार करने के कारण बोस्टन (Boston) की गलियों में से घसीटा गया और जनता के कोप से बड़ी मुश्किल से इसकी जान बची। ऐसी अवस्था में आप अनुमान लगा सकते हैं कि हेरिएट टबमैन की भी क्या दुर्दशा होती, यदि विल्मिंगटन स्टेशन पर गार्ड गाड़ियों की पड़ताल कर लेता जब कि वह एक मालगाड़ी में छिपी हुई भागी जा रही थी।

जब अमेरिका में गृह-युद्ध आरंभ हुआ तो हेरिएट उत्तर के सैनिकों की सेवा-शुश्रूषा करने और उनका खाना पकाने के लिये उनसे जा मिली। उस वीरांगना के जीवनकाल में ही सारी यूनाइटिड स्टेट्स में से दासता को सर्वथा नष्ट कर दिया गया और हब्शियों को वोट (मत) देने का अधिकार भी मिल गया। वह शुभ दिवस उसके जीवन में एक चिर-स्मरणीय विजय-दिवस था।

अपने उद्देश्य में सफल होकर हेरिएट ने औबर्न (Auburn) में एक छोटे से विश्रामगृह (House of Rest) की स्थापना की। वहाँ वह अपने बूढ़े सजातीयों के साथ रहने लगी। परिश्रम, संकट और भय का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् उसे वहाँ ही थोड़ी सी शान्ति मिली।

फ़्लोरेंस नाइटिंगेल

फ़्लोरेंस नाइटिंगेल का जन्म १२ मई, १८२० को आर्नो नदी के किनारे फ़्लोरेंस नगर में हुआ था। उसका पिता विलियम नाइटिंगेल एक बड़ा समृद्ध ज़मींदार था। वह बड़ा सच्चरित्र और विद्वान् पुरुष था। ग्राम में अपनी असामियों के अंदर विद्या-प्रचार के लिये धन व्यय करने में वह ज़रा भी संकोच नहीं करता था। फ़्लोरेंस की माता विलियम स्मिथ की लड़की थी, जो नौर्विच प्रान्त की ओर से पचास वर्ष तक पार्लियामेंट का सदस्य रहा। वह दास-प्रथा का कट्टर विरोधी था और परोपकार के कामों में बहुत उत्साह प्रकट करता था। फ़्लोरेंस की माता ने भी परोपकार, दया और उदारता आदि गुण अपने पिता से प्राप्त किये थे। माता पिता दोनों के ही कुलीन और महानुभाव होने के कारण फ़्लोरेंस के अन्दर भी परोपकारशीलता और विद्या-प्रेम आदि का बीजारोपण हो गया।

बचपन के खिलवाड़ में ही उसकी भावी वृत्ति की झलक दिखाई देती थी। उसकी गुड़ियाँ बहुधा रोग-ग्रस्त हो जातीं और वह उनके सिरहाने बैठी उनकी उपचर्या करती रहती। उनके कपड़े बदलती, उन्हें खिलाती, पिलाती और थपक कर सुलाती। इस प्रकार उनके काल्पनिक रोगों को काल्पनिक सेवा-शुश्रूषा से ही दूर कर देती। जब कभी उनके हाथ पाँव टूट जाते तो भली भांति जोड़कर ऊपर से पट्टी बाँध दिया करती।

वह कोई दस वर्ष की होगी, जब उसे सचमुच एक सजीव रोगी की उपचर्या करने का अवसर मिला। हेम्पशायर की घाटी में जब वह एक दिन अपने पादरी के साथ घोड़े पर चढ़ी हुई जा रही थी तब उसने देखा कि बहुत सी भेड़ें पहाड़ी पर इधर-उधर भाग रही हैं। बूढ़ा गडरिया बेचारा डंडा लिये उन्हें बहुतेरा हाँक कर इकट्ठा करने का प्रयत्न करता है पर वे वश में नहीं आतीं। अन्त में हार कर वह एक जगह घास पर बैठ गया। उसको कष्ट में देखकर फ़्लोरेंस और पादरी उसके पास जा पहुँचे और पादरी ने अपना घोड़ा रोककर कहा—'क्यों भई रौजर, क्या बात है? तेरा कुत्ता कहाँ है?'

बूढ़े ने कहा—'दुष्ट लड़कों ने पत्थर मार मार कर उसकी टांग तोड़ दी है। अब वह किसी काम का नहीं रहा। इसी से मैं इस विपत्ति में पड़ गया हूँ। कुत्ते का भी बुरा हाल है। मैं उसका दुःख देख नहीं सकता।'

'हैं? कुत्ते की टांग टूट गई?' लड़की ने घबराकर पूछा,

'रौजर, क्या हम कुछ नहीं कर सकते ? उसको दुःख में इस तरह त्याग देना तो महापाप है। वह है कहाँ ?'

'बेटी, तुम क्या कर सकती हो ? वह तो अब किसी योग्य नहीं रहा। आज रात ही मैं उसे फाँसी लगाकर उसके दुःख को सदा के लिए शान्त कर दूँगा। वह सामने एक झोंपड़ी के भीतर पड़ा है।'

'तो क्या हम बेचारे की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते ?' फ़्लोरेंस ने पादरी की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखकर पूछा। बालिका के मुख पर करुणा की मुद्रा देखकर पादरी का हृदय पिघल गया और उसने अपने घोड़े का मुख सामने की झोंपड़ियों की ओर कर दिया। फ़्लोरेंस घोड़े को दौड़ाकर पादरी से पहले ही उस झोंपड़ी के पास जा पहुँची, जहाँ वह घायल कुत्ता पड़ा था। उसने उतर कर कुत्ते को थपकी दी और पुचकारा। जब बेचारे मूक जानवर को प्यार और दिलासा मिला तो उसने अपनी भूरी आँखें खोलकर धन्यवाद प्रकट किया। इतने में पादरी भी आ पहुँचा। पादरी से पूछकर फ़्लोरेंस ने पानी गरम करके कुत्ते के घाव को धोकर उसकी टकोर की। टकोर से सूजन और पीड़ा कम हो गई।

पर फ़्लोरेंस अपने काम को पूर्ण कुशलता से करना चाहती थी। उसने अपने घर किसी के हाथ सँदेसा भेज दिया, ताकि माता-पिता चिन्ता न करें और स्वयं कई घण्टों तक बैठी कुत्ते की लंगड़ी टांग को भाप का सेक देती रही।

सायंकाल को जब बूढ़ा रौजर हाथ में फाँसी की रस्सी लिये हुए आया तो कुत्ता गुर्राया और उठकर उसकी ओर बढ़ने लगा।

यह देखकर रौजर बोल उठा—'बेटी ! तुम ने तो चमत्कार कर दिखाया ! मैं तो इसकी ओर से निराश हो चुका था, और इसे फाँसी लगाने आया था।'

'नहीं, अब यदि तुम इसकी देख भाल करते रहोगे, तो यह बच जायगा। मैं कल फिर आऊँगी।' इतना कहकर बूढ़े को उपचारविधि समझाकर वह वहाँ से चली आई।

इस प्रकार वह प्राणिमात्र का कुछ न कुछ भला करने के लिये सर्वदा उत्सुक रहती। उसके पिता की सारी असामियाँ उससे प्रेम करने लगीं। जब कभी उनके यहाँ कोई रोगी हो जाता, झट वे फ़्लोरेंस के कान तक समाचार पहुँचा देते।

फ़्लोरेंस को पशुओं से बहुत प्रेम था और उसने कई पशु पाल रखे थे। उनमें से एक बूढ़ा टट्टू भी था, जिसे वह प्रति दिन कुछ न कुछ खाने को दे आती। खेतों में सब जीव-जन्तु उससे प्रेम करने लगे। वह दाने बिखेरती जाती और गिलहरियाँ उसके पीछे पीछे दौड़तीं। उनकी क्रीड़ा और चपलता को देख-देख कर वह बहुत ही प्रसन्न होती। पशुओं की भांति उसे फूलों से भी बहुत प्रेम था।

पड़ोस में जहाँ कहीं भी वह जाती, सभी उसका प्रेम से स्वागत करते। बीमारी और कष्ट में तो वह 'शान्ति की देवी' समझी

जाती। जब कभी वह अपनी माता की ओर से दान करने को निकलती, तो भूखे नंगों के लिये अन्न और वस्त्र ले जाती। भिखारियों को भिक्षा लेने में इतना आनन्द न होता जितना कि उसकी मधुर आकृति और मुख पर सहानुभूति की मुद्रा देखकर होता था। उस नन्ही अवस्था में ही वह साक्षात् देवी की मूर्त्ति दिखाई पड़ती थी। दूसरों के दुःख और क्लेश को देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता था, उसकी आत्मा काँप उठती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह अपने जीवन के उद्देश्य को अपने साथ लेकर जन्मी हो। दूसरों का भार हलका करना, उनका दुख-दर्द बाँट लेना ही उसका सहज स्वभाव था।

फ़्लोरेंस न केवल अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य के भीतर ही पली थी, वरन् उसे उस समय की प्रथा की अपेक्षा कहीं बढ़कर उच्च शिक्षा दी गई थी। उसका पिता एक बड़ा शिक्षित, उदात्त और शालीन व्यक्ति था। उसने फ़्लोरेंस को ग्रीक, लेटिन, गणित और विज्ञान के मूल सिद्धान्तों में स्वयं शिक्षा दी! उच्च कोटि के लेखकों और कवियों की कृतियों से उसका अच्छा परिचय करा दिया। घर में उसका नियंत्रण बहुत कठोर था। उसने पढ़ने-लिखने और खेलने-कूदने के नियम बना रखे थे। उन नियमों का उल्लंघन करने से अवश्यमेव दण्ड मिलता था। इसलिए बचपन से ही फ़्लोरेंस को कड़ी साधना में से गुज़रना पड़ा, जिससे वह प्रत्येक कार्य को क्रम और विधिपूर्वक करना सीख गई।

फ़्लोरेंस को सीने-पिरोने का भी बड़ा चाव था। वह गद्दे,

मोज़े आदि बुन लेती और चादरों, दुपट्टों और अन्यान्य वस्त्रों पर बड़ा सूक्ष्म कसीदे का काम कर लिया करती थी। झालरें बनाना, किनारे लगाना और भांति भांति के बेल बूटे और चित्र निकालना इन सब में वह इतनी चतुर थी कि लोग देखकर दंग रह जाते थे। साथ ही साथ माता ने उसे बोलने, चलने, उठने, बैठने और शिष्टाचार के सभी नियमों की भी शिक्षा दे दी थी। तात्पर्य यह कि छोटी ही अवस्था में वह एक बड़ी निपुण और सुघड़ लड़की बन गई थी।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, फ़्लोरेंस के मन में व्याकुलता उत्पन्न होने लगी। वह सोचने लगी—'क्या इस सुख के जीवन के अतिरिक्त संसार में कोई महत्त्व का काम नहीं है? क्या जीवन का उद्देश्य यही है कि खा पी कर सुख में पड़े रहें? संसार में कितना दुःख, कितना कष्ट, कितनी वेदना और कितनी व्यथा है! क्या मैं इसे दूर करने के लिये कुछ भी नहीं कर सकती?' यह प्रश्न थे, जो उसे व्याकुल कर रहे थे। अंत में उसने अपने कार्यक्षेत्र का निश्चय कर लिया—वह था हस्पताल में नर्स का काम।

एक दिन जब फ़्लोरेंस ने सालिसबरी हस्पताल में जाकर कुछ मास तक नर्स का काम करने की प्रबल इच्छा प्रकट की तो यह सुनकर उसकी माँ चौंक उठी। इतना अनर्थ! इतना मर्यादा-भंग! ज़मींदार की बेटी और ऐसा निकृष्ट काम करे! घोर विरोध करके उसे रोक दिया गया। उन दिनों में नर्सरी का व्यवसाय कलंकित समझा जाता था। नर्सें प्रायः गन्दी, अनपढ़, मूर्ख, और क्रूर हुआ करती थीं। वे मद्य पीतीं और अनेकों अनाचार किया करती थीं।

दुराचार के लिये तो वे विशेष कर बदनाम थीं। इसलिये चिकित्सा आदि का छोटे से छोटा कार्य भी उनके भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता था। आजकल तो युग ही पलट गया है। उस समय से आज तक पृथिवी-आकाश का अन्तर हो गया है। इस परिवर्तन का प्रधान कारण थी, सुधारकों की शिरोमणि फ़्लोरेंस नाइटिंगेल।

अपनी इस इच्छा के विरोध के आठ साल पीछे तक वह घोर परिश्रम करती और उपाय सोचती रही। न समाज की रंग-रलियाँ उसे भाती थीं, न विवाह की बात ही उसे अच्छी लगती थी। वह लुक छिप कर वैद्य-परिषदों की रिपोर्टें, स्वास्थ्य-विभागों की पुस्तकें और हस्पतालों और आश्रमों के इतिहास पढ़ा करती। जब अवकाश के दिनों में वह लंडन जाती तो वहाँ गरीबों के विद्यालयों और कर्मशालाओं में जाकर काम करती। यूरोप के सब बड़े बड़े हस्पतालों से वह परिचित थी और सभी बड़े बड़े नगरों की गन्दी गलियों में चक्कर काट चुकी थी। उसने कुछ दिन रोम के एक कौन्वेंट स्कूल में और कुछ सप्ताह पैरिस में भिक्षुणी (सिस्टर ऑफ़ मर्सी) बनकर भी व्यतीत किये थे। सन् १८४६ में कार्ल्सबाद में एक दिन वह अपनी माँ और बहन के पास से भागकर कैसरवर्थ में डीकोनेसिस् संस्था में चली गई। यह संस्था प्रसिद्ध दानवीर और परोपकारी सज्जन श्रीयुत स्पैटर फ़्लीड्नर ने स्थापन की थी और यह पहली ही संस्था थी, जिसमें स्त्रियों को रोगियों की सेवा करने के लिये नर्स बनने की शिक्षा दी जाती थी। यह भी एक संयोग की बात थी कि संसार की भावी नर्स-शिरोमणि ने वहाँ जाकर शिक्षा

प्राप्त की। इस स्थान पर उसके भावी कार्य-क्षेत्र की नींव पड़ गई। उसने कैसरवर्थ की इस संस्था के संबंध में एक पुस्तक लिखी, जिसकी आय उसने दान में ही लगा दी।

फ़्लोरेंस नाइटिंगेल स्त्रियों को सर्वदा इस बात का उपदेश देती कि किसी भी काम के लिये शिक्षा का होना अत्यावश्यक है। शिक्षा के बिना कोई भी काम सफल नहीं हो सकता और न ही उसमें कभी दैव सहायक होता है।

तीन वर्ष और व्यतीत हो गए। अन्त में माता-पिता ने समझ लिया—लड़की सयानी हो गई है, अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है, इसलिये अब उसके मार्ग में बाधा डालना उचित नहीं।

अन्त में फ्लोरेंस हार्लेस्ट्रीट में एक आतुरालय की अध्यक्षा बन गई और उसने अपने निरंतर परिश्रम और उत्साह से उसे एक आदर्श संस्था बना दिया। एक युवती जो उस संस्था को देख आई थी, कहती है—'हस्पताल के सभी कामों में वही दिखाई देती थी। क्या नर्सों का शासन, क्या चिट्ठी-पत्री, क्या औषध-निर्देश और क्या हिसाब-किताब सभी काम वह स्वयं ही देखती भालती और साथ ही संस्था को धन की सहायता भी देती।'

अब एक ऐसा अवसर आया, जिससे उसके भाग्य का उदय हो गया। क्रीमियाँ का युद्ध छिड़ गया। सारी जाति की आँखें उधर लग गईं। योद्धाओं को युद्ध के लिये आह्वान करके प्रोत्साहित किया गया—'वीरो, उठो! शत्रु चाहे कितना ही प्रबल और

शूरवीर क्यों न हो, यदि तुम अपनी बन्दूक और तलवार लेकर डट जाओगे तो विजय तुम्हारी ही है !'

जब ऐल्मा से विजय का समाचार आया तो साथ ही यह भी सूचना मिली कि रणभूमि में घायलों की कोई परवा नहीं करता, रोगियों की कोई बात नहीं पूछता और मरते हुओं को ढाढस बँधाने वाला भी कोई नहीं। इधर सारी जाति विजयोत्सव मना रही थी, उधर सैनिकों में असन्तोष फैल रहा था। आने जाने के मार्ग सब टूट चुके थे। लड़ने के साथ ही साथ सैनिकों को पशुओं की भाँति भार उठाकर जाड़े के दिनों में चौदह चौदह मील कीचड़ में पैदल चलकर अपने और अपने साथियों के लिए खाना दाना और गर्म कंबल लाने पड़ते थे। प्रसिद्ध रण-संवाद-दाता विलियम हौवर्ड रसल ने लिखा—'हस्पताल की साधारण से साधारण सामग्री भी नहीं मिलती। सफ़ाई का कोई प्रबन्ध नहीं। दुर्गन्ध से दिमाग़ फटा जाता है। मनुष्य मक्खियों की तरह मर रहे हैं और उन्हें बचाने वाला कोई नहीं। क्या हमारे देश में आत्मबलिदान करने वाली ऐसी स्त्रियाँ नहीं रहीं, जो जाएँ और स्कूतरी के हस्पतालों में हमारे पूर्वीय योद्धाओं को दुःख में सान्त्वना दें और रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करें ? क्या इंग्लैंड की देवियों में इतनी शक्ति भी नहीं रही, जो इस संकट के समय में पुण्य का काम कर सकें ?'

उस समय सिड्नी हर्बर्ट युद्ध-मन्त्री था। वह अपनी शासन-शक्ति और कर्तव्य-निष्ठा के लिए तो विख्यात था ही, पर सब से बढ़कर था उसका चरित्र, जिसके कारण उसके वाक्यमात्र पर सभी

लोग अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो जाते थे। सारी जाति की दृष्टि अब उसी की ओर ही लगी हुई थी।

इस पुकार को सुनकर युद्ध-मन्त्री के पास सभी जाति की स्त्रियों के प्रार्थनापत्र आने लगे। ज्यों ज्यों स्त्रियाँ सैनिकों की व्यथा की कहानियाँ सुनतीं, धड़ाधड़ नर्सों का काम करने के लिये अपने आपको समर्पण करती जातीं। पर हर्बर्ट ने देखा कि उनमें से किसी में भी कार्यभार उठाने की योग्यता नहीं। एक भी ऐसी नहीं जो सब के ऊपर शासन करती हुई सारे काम को सुव्यवस्थित रूप से चला सके। परन्तु एक व्यक्ति को वह जानता था, जो इस काम के लिए पूरी योग्यता रखती थी। वह थी फ़्लोरेंस नाइटिंगेल। पर बिना उसके अपनी इच्छा प्रकट किये ही वह उससे कैसे कहे कि मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर, जान पर खेलकर वह इस अग्नि में कूद पड़े?

इधर फ़्लोरेंस ने अपने ग्राम में होवर्ड रसल के हृदय-वेधक शब्दों पर विचार किया। कई वर्षों से वह ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में थी। अब वह स्वतन्त्र थी, सुशिक्षित थी, निपुण थी और प्रौढ़ भी हो गई थी। उसके मन में सेवा का भाव भी प्रबल था और शरीर में शासन करने की शक्ति भी। उसने निश्चय कर लिया और दिन निकलने से पहले पहले, १५ अक्टोबर को, युद्ध-मंत्री सिड्नी हर्बर्ट के नाम पत्र लिख दिया—'मैं तन मन धन से देश-सेवा करने को तैयार हूँ।' उसी दिन हर्बर्ट महोदय ने भी बड़ी उधेड़-बुन के पश्चात् स्वयं ही उसे सैनिकों की सेवा करने वाली नर्सों के समुदाय

की नेत्री बनने के लिये एक लंबा चौड़ा पत्र लिखा और डाक में ये दोनों पत्र एक दूसरे को लाँघ गए।

एक सप्ताह के अन्दर ही अन्दर वह ३८ नर्सों के पहले दल के साथ जाने को तैयार हो गई। दिखावे से बचने के लिये वह २१ अक्टोबर १८८४ को रात्रि के समय नर्सों को साथ लेकर चल दी।

वे लोग ४ नवंबर १८८४ को, बालक्लावा के युद्ध के दस दिन पीछे और इंकरमेन के युद्ध से केवल एक दिन पहले स्कूतरी पहुँचे। ज़ब 'नर्सों की रानी' ने रोगियों और घायलों के आश्रमों का चक्कर लगाया तो वह काँप उठी। चारों ओर से तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी। मोटी टाट के बिस्तरे इतने कर्कश थे कि घायल लोग उन्हें दूर से ही हाथ जोड़ते थे और अपने कंबलों में लिपटे रहना अधिक पसंद करते थे। रोगियों के लिये चारपाइयाँ तक न थीं। वे बेचारे वर्षा में एक फटी और टपकती हुई टाट के वितान के नीचे केवल भूमि पर पड़े थे। रात्रि को केवल मोमबत्तियों की धीमी-सी टिमटिमाहट में धमाधम चूहे कूदने लगते और भूखे होने के कारण दुर्बल रोगियों को काट काट कर उनका रक्त ही चूसने लगते। न झाड़ू, न साबुन, न तौलिया, न कपड़े, न जूते, न पालिश, न चमचे, न थाली, न चिलमची, न चाकू, न कैंची, न कतरनी ! न मरहम, न पट्टी, न औषध ! न खटिया, न शिविका, न अर्थी ! तात्पर्य यह कि वहाँ कुछ भी नहीं था। हस्पताल के चारों ओर गन्दगी ही गन्दगी पड़ी थी। एक खिड़की के नीचे छः कुत्ते मरे हुए पड़े सड़ रहे थे। न

नहाने-धोने का प्रबन्ध था, न रसोई का और न ही स्वास्थ्य-रक्षा का। चारों ओर व्यथा, अभाव और प्रमाद के कारण गड़बड़ मची हुई थी। इस परिस्थिति को देखकर बलवान् से बलवान् मनुष्य का भी हृदय काँप उठता और कठोर से कठोर मनुष्य भी आँखें बन्द कर लेता।

पर नाइटिंगेल ने आशा नहीं छोड़ी और कटिबद्ध होकर काम पर डट गई। सब से अच्छी बात यह थी कि वह अपने साथ बहुत-सी सामग्री लेती आई थी। यद्यपि सैनिक-चिकित्सा-संघ (आर्मी मेडिकल बोर्ड) के अध्यक्ष ने उससे कह दिया था कि वहाँ किसी वस्तु की भी कमी नहीं, तो भी उसने अपनी बुद्धि पर भरोसा करके मार्सेल्स में बहुत सी वस्तुएं खरीद ली थीं, जो स्कूतरी में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुईं। उसके पास धन की भी कमी न थी। ७००० पौंड तो जनता ने इकट्ठा करके भेजे थे और मेक्डानल्ड महोदय ने टाईम्स का कोष (टाईम्स फ़ण्ड) उसके अधीन कर दिया था।

जहाँ इतना घोर अनर्थ हो रहा था, वहाँ अर्दली से लेकर कमांडर तक यही कहते जाते थे कि सब ठीक है। परन्तु फ़्लोरेंस अपने व्रत से तिल भर भी न टली और दुर्दान्त समुद्र में चट्टान की भांति डटी रही। यही कारण था कि स्कूतरी में निराशा के घोर अन्धकार में आशा की झलक दिखाई देने लगी। गन्दगी और झमेले के स्थान पर स्वच्छता और सुव्यवस्था का राज्य हो गया। दिन रात वह अपने कमरे में से विविध प्रकार के आदेश देती थी, और कई बार स्वयं चौबीस चौबीस घण्टे लगातार खड़ी हुई

डाक्टरों के साथ रोगियों की उपचर्या करती थी। रात को जब सब डाक्टर सो जाते, वह अपने हाथ में दीपक लिये रोगियों के बीच चक्कर लगाया करती। दस दिन के भीतर ही हस्पताल की दशा इतनी सुधर गई कि रोगी ने जहाँ 'चूँ' की, वहीं उसकी सेवा के लिये एक नर्स पहुँच जाती। यह सब चमत्कार उसी अकेली युवती के कारण से था। यदि उस जैसी कुशाग्रबुद्धि और स्नेहार्द्र-चित्त वाली ललना इस काम के सिर पर न होती तो इंग्लैंड का सारा कोष व्यय कर देने पर भी इतना परिवर्तन नहीं हो सकता था।

जब रणभूमि से क्षत-विक्षत सैनिक स्कूतरी में लाए जाते तो शल्य-वैद्यों का यह काम था कि न बचने वालों में से बच जाने वालों को पृथक् कर लेते। एक बार फ़्लोरेंस ने पाँच सैनिक ऐसे देखे जिन्हें असम्भव समझकर पृथक् कर दिया गया था। उसने झट शल्य-वैद्य से पूछा—'क्या इनकी चिकित्सा नहीं हो सकती?' वैद्य ने उत्तर दिया—'मेरा कर्त्तव्य पहले उनकी चिकित्सा करना है, जिनके बचने की कुछ आशा हो।' फ़्लोरेंस ने कहा—'तो क्या मैं इन्हें ले जाऊँ?' वैद्य बोला—'हम तो इनका बचना असम्भव समझते हैं। आप जो चाहें, करें।' यह सुनकर वह सारी रात उनके पास बैठी रही और चमचे से उन्हें खिलाती पिलाती रही। जब उन्हें कुछ चेतना हो आई तो उनके व्रण धोकर उन्हें धीरज बँधाया। दूसरे दिन वैद्य को मानना पड़ा कि इनकी चिकित्सा हो सकती है और ये बच सकते हैं।

इतना महत्त्व का काम करते हुए भी कई क्षुद्र लोग उस पर आक्षेप करते थे। और कुछ नहीं तो उसके धार्मिक विचारों पर

कटाक्ष करते। परन्तु वह इन कटाक्षों से अपने पथ से किंचिन्मात्र भी विचलित न हुई। महारानी विक्टोरिया और उसके पति आरम्भ से ही फ़्लोरेंस के काम में दिलचस्पी लेते थे। इस विषय में महारानी विक्टोरिया ने जो पत्र सिड्नी हर्बर्ट को लिखा था, उसने न केवल उन छिद्रान्वेषियों का ही मुँह बन्द कर दिया वरन यह भी प्रकट कर दिया कि महारानी की नाइटिंगेल और उसकी नर्सों में कितनी श्रद्धा है।

महारानी लिखती हैं:—

विंड्सर कॉसल
दिसम्बर ६, १८५४

'क्या आप श्रीमती हर्बर्ट से निवेदन करेंगे कि वे मुझे नाइटिंगेल अथवा श्रीमती ब्रेसब्रिज से आए हुए वृत्तान्तों का ब्योरा प्रायः भेज दिया करें, क्योंकि मुझे घायल सैनिकों के विषय में विस्तार-पूर्वक समाचार नहीं मिलते। रण-क्षेत्र के वृत्तान्त तो अधिकारिवर्ग से बहुत से आ जाते हैं पर औरों की अपेक्षा मुझे घायल सैनिकों की अधिक चिन्ता है।

'आप श्रीमती हर्बर्ट से यह भी कह दें कि मेरी इच्छा है कि नाइटिंगेल और उसकी नर्सें उन बेचारे क्षत और रोगी वीर पुरुषों को बतला दें कि उनकी रानी सब से बढ़कर उनके दुःख में सहानुभूति रखती है और उनके पराक्रम और वीरता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करती है। दिन रात उसे अपने प्यारे सैनिकों का ही ध्यान रहता है।

श्रीमती हर्बर्ट को ताक़ीद कर दें कि मेरा संदेश उन देवियों तक अवश्य पहुँचा दें, क्योंकि वे महानुभाव योद्धा हमारी सहानुभूति को बहुत मानेंगे।

'विक्टोरिया'

स्कूतरी में छः महीने लगाकर फ़्लोरेंस नाइटिंगेल युद्ध-क्षेत्र में रोगियों और आहतों की अवस्था देखने के लिये बालक्लावा चली गई। उसके साथ टामस नामी एक ढोलची युवक था, जो अपना ढोल बजाने का काम छोड़कर उसका भक्त बन गया था। वह बारह वर्ष का छोकरा बड़ा हँसमुख, चतुर और उत्साही था। उसके टुकड़े टुकड़े हो जायँ पर क्या मजाल कि उसकी प्यारी स्वामिनी को कोई हानि पहुँचा सके।

वहाँ फ़्लोरेंस ने गोलियों की बौछार के भीतर सुरंगों और खाइयों में जाकर देखने का आग्रह किया। उसके साथी तो उससे सहमत हो गए पर सन्तरी डरता था। उसने कहा—'श्रीमती जी, यदि कुछ ऐसा-वैसा हो गया तो ये सभी लोग इस बात के साक्षी होंगे कि मैंने आपको मना कर दिया था।' नाइटिंगेल बोली—'भद्र! मेरे हाथों में से इतने आहत और मृतक निकले हैं, जो शायद ही तुम्हें कभी रण-क्षेत्र में देखने का अवसर मिले। विश्वास रखो, मुझे मृत्यु से भय नहीं है।' पर संतरी सच्चा था। उस देवी का जीवन अनमोल था। उसे ऐसे महासंकट में डालना उचित नहीं था।

एक बार जब वह अपनी नर्सों के एक दल के साथ किसी कार्य का निपटारा कर रही थी, तब एकाएक वह सख़्त बीमार पड़ गई। डाक्टरों ने कहा—'इसे भयानक क्रीमियन ज्वर है। इसे तुरन्त ही किसी स्वास्थ्य-आश्रम में ले जाओ।' उसे एक नदी के तट पर, जहाँ वसन्त ऋतु के फूल खिले हुए थे, एक कुटिया में रखा गया। बारह दिन तक वह वहाँ बड़ी शोचनीय अवस्था में पड़ी रही।

इस समाचार को सुन कर प्रधान-सेनापति लॉर्ड रेग्लन को बड़ा दुःख हुआ और जब फ़्लोरेंस के डाक्टर ने उसे मिलने की आज्ञा दी तब वह घोड़े पर चढ़कर स्वयं उसे मिलने आया। वहाँ आकर उसने फ़्लोरेंस की बीमारी पर बड़ा दुःख प्रकट किया और उसके निष्काम सेवाभाव की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। जाते हुए हाथ मिलाकर उसने उसके स्वास्थ्य के लिये प्रार्थना की।

एक बार उसे जंगली फूलों का एक स्तबक भेंट किया गया, जिसको देखकर वह इतनी प्रसन्न हुई कि उसका रोग घटने लगा। डाक्टरों ने उसे तत्काल इंग्लैंड लौट जाने की संमति दी, पर वह न मानी। ८ अक्टोबर को वह अभी बीमारी से उठकर बैठी ही थी कि अंग्रेज़ों और इनके साथियों ने सेबेस्टोपोल पर एक अन्तिम आक्रमण किया। उसी रात रूसी लोग नगर को आग लगाकर भाग गए। अब सन्धि का प्रस्ताव स्पष्ट सामने दिखाई दे रहा था। इंग्लैंड में उत्सव मनाये जाने लगे। लोग सोचते थे कि रण-क्षेत्र की देवी का किस भाँति धन्यवाद किया जाय। लोगों की इच्छा को

पहले ही भाँपकर महारानी विक्टोरिया ने सिड्नी हर्बर्ट से यही प्रश्न पूछा।

हर्बर्ट ने उत्तर दिया—'केवल एक ही रूप में वह इस धन्यवाद को स्वीकार करेगी और वह यह है कि दान इकट्ठा करके लन्दन में उसके नाम पर एक हस्पताल खोल दिया जाय। इससे उसको यहाँ आकर भी परोपकार करने का अवसर मिल जायगा। उसके लिये इससे अधिक सन्तोषप्रद और कोई वस्तु नहीं हो सकती।'

इस संकल्प को पूरा करने के लिये एक 'नाइटिंगेल हस्पताल फंड' खोला गया और दान इकट्ठा करने के लिये एक विराट् सभा में सिड्नी हर्बर्ट ने अपने मित्र का एक पत्र पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था—'मैंने एक सैनिक के मुख से बहुत सुन्दर वृत्तान्त सुना है। वह कहता है—फ़्लोरेंस का दर्शनमात्र ही अनन्त शान्ति देने वाला था। पहले वह एक से बोलती, फिर दूसरे से। कई एक को वह मुस्करा कर ही उत्तर दे देती और बहुतों को केवल सिर हिलाकर ही संतुष्ट कर देती। पर कहाँ तक ? हम तो सैकड़ों की संख्या में लेटे पड़े थे। पर जब वह पास से होकर निकलती तो हम उसकी छाया मात्र को ही देखकर संतुष्ट हो जाते।' इस कथा को सुनाते ही १०,००० पौंड इकट्ठे हो गए। यह था नाइटिंगेल फंड के लिये जनता का दान, जो दिनों-दिन ग़रीबों के पैसों और अमीरों के चेकों से बढ़ता ही जाता था।

अन्त में जब ४४,००० पौंड इकट्ठे हो गए तो फ़्लोरेंस ने स्वयं इसे बन्द करवा दिया और कहा कि अब यह दान फ्राँस में

सन् १८५७ की बाढ़ से पीड़ित जनों की सहायता करने वाले फंड में जाना चाहिए।

फ़्लोरेंस ने यह सारा धन, कन्याओं को हस्पतालों में नर्सों का काम करने की शिक्षा देने के लिये, एक आप्तजनों की समिति (ट्रस्ट) के अधीन कर दिया। इस प्रकार फ़्लोरेंस नाइटिंगेल को युद्ध के समय रणभूमि में अग्रसर होने का और शान्ति के समय देश में नर्सों को शिक्षा देने में सब से प्रथम होने का दोहरा सौभाग्य प्राप्त हुआ। पर उसके लिये सब से अधिक गौरव की बात यह हुई कि १८७१ में लंडन में नाइटिंगेल-आश्रम और ट्रेनिंग स्कूल (शिक्षणालय) खोले गए, जो नये सेंट टामस हस्पताल का एक आवश्यक अंग बना दिये गए।

जिन दिनों दान अभी आ ही रहा था और सन्धि की वार्ता चल रही थी, फ्लोरेंस फिर क्रीमिया चली गई। तब वह बचे-खुचे घायलों और शत्रु के देश में ठहरी हुई सेना के रोगियों की देख-भाल करने लगी। इस मध्य में ही उसे महारानी विक्टोरिया की ओर से एक ब्रूच (आभूषण) और निम्न-लिखित पत्र मिला।

विंडसर कॉसल
जनवरी, १८५६

प्यारी नाइटिंगेल,

मुझे आशा है, तुम्हें ज्ञात ही होगा कि इस नृशंस और घोर युद्ध में जो सेवा-भक्ति तुम ने दिखाई है, उसके लिये मेरे मन में कितना

आदर है। और मुझे यह भी जतलाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि तुम्हारे उस त्याग की मैं मुक्तकण्ठ से सराहना करती हूँ, जो तुमने अपने अपार दया-भाव से वीर सैनिकों का दुःख दूर करने में दिखलाया। तुम्हारा बलिदान उन वीरों के बलिदान से किसी प्रकार भी कम नहीं। परन्तु मेरी उत्कट इच्छा है कि अपने भावों के संकेत-रूप में तुम्हें कुछ भेजूँ। इसलिये इस पत्र के साथ मैं एक आभूषण भेज रही हूँ, जिसके आकार और लेख तुम्हारे महापुण्य के काम के स्मारक हैं। आशा है, तुम इसे पसंद करोगी और अपनी महारानी की ओर से अत्यन्त आदर का चिह्न समझकर इसे पहना करोगी।

जब तुम देश को लौटोगी तो मैं तुम्हारे-जैसी महिला का, जिसने स्त्री-जाति के लिये एक आदर्श उपस्थित कर दिया है, दर्शन करके अपने आपको कृतार्थ समझूँगी। तुम्हारे स्वास्थ्य और दीर्घ आयु के लिये सदा प्रार्थना करती हूँ।

तुम्हारी हितैषिणी
'विक्टोरिया'

गवर्नमेंट भी उसके काम की प्रशंसा करने में पीछे नहीं रही। जब सन् १८५६ के वसन्त ऋतु में सन्धि के विषय में बातचीत हो रही थी तो लॉर्ड एलस्मियर ने उसकी सेवाओं की बड़े सार-गर्भित शब्दों में सराहना की।

सन्धि हो जाने के चार मास पश्चात् जून १८५६ में जब सभी

सैनिक अपने-अपने घरों को विदा हो गए तब फ़्लोरेंस भी अपने देश को लौटी। पर लौटने से पहले बालक्लावा की पहाड़ियों पर, जहाँ सारे यूरोप की आँखों के सामने इंग्लैंड ने अपनी वीरता का परिचय दिया था, एक बहुत बड़ी सूली (क्रॉस) का चिह्न बनवा आई। उस पर लिखवा दिया—'प्रभो! हमारे ऊपर दया करो।' उसने यह चिह्न जिसका नाम 'नाइटिंगेल क्रॉस' पड़ गया, वीरगति को प्राप्त हुए योद्धाओं और स्वर्गवासिनी नर्सों की स्मृति में बनवाया था।

सारी जाति उसका स्वागत करने के लिए उत्सुक थी। गवर्नमेंट ने उसे लाने के लिए लड़ाई का जहाज़ भेजना चाहा, पर उसने स्वीकार न किया। वह स्कूतरी से फ्राँसीसी जहाज़ पर चढ़कर फ्राँस में से होती हुई इंग्लैंड जा पहुँची। वहाँ से ८ अगस्त १८५६ को अपने घर के समीपतर रेलवे स्टेशन 'ह्वाइट स्टैंडवेल' पर पहुँच गई। वहाँ से चुपचाप 'ली हर्स्ट' में जा पहुँची, जहाँ काले कपड़ों में उसे घर के पुराने रसोइए ने ही पहचाना।

उसका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था। डाक्टरों ने विश्राम करने का अनुरोध किया। पर वह न मानती थी। उसे विश्राम करने की बान ही न थी। उसका कार्य-क्षेत्र अभी विस्तृत था और उसने अपने आपको उसी के निमित्त अर्पण कर दिया।

लौटने के कुछ सप्ताह पीछे उसने महारानी विक्टोरिया के पत्र के अनुसार वही आभूषण (ब्रूच) पहनकर महारानी के

दर्शन किये। इसके पश्चात् वह फिर कई बार महारानी और उसके राजकुमार पति से मिलती रही।

वह लेखिका भी उच्च कोटि की थी। सन् १८५९ में उसने 'नोट्स औन होस्पिटल्स' नाम की एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी। तत्पश्चात् १८६० में 'नोट्स औन नर्सिंग' नाम की पुस्तक लिखी, जिसकी एक लाख प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गईं। और भी छोटी छोटी कई पुस्तकें लिखीं। स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषयों में उसे प्रामाणिक माना जाने लगा। पालन-पोषण (नर्सिंग) और उपचर्या के विषय में यूरोप भर से लोग उसकी संमति लेने लगे।

नवम्बर १९०७ में महाराज एडवर्ड सप्तम ने उसे 'ऑर्डर ऑफ़ मेरिट' की उपाधि दी। आज तक केवल वही एक स्त्री हुई है, जिसे इतना अधिक संमान मिला हो। फरवरी १९०८ में लंडन कॉर्पोरेशन ने फ़्लोरेंस को सोने के बक्स में 'फ्रीडम ऑफ़ दि सिटी' नाम का प्रशंसापत्र देने का निश्चय किया। फ़्लोरेंस नाइटिंगेल ने प्रशंसापत्र तो आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया, पर सोने के बक्स पर जो सौ पौंड व्यय किए जाने थे वह 'क्वीन विक्टोरिया जुबिली इंस्टिट्यूट फ़ौर् नर्सिस् एण्ड दि हस्पिटल फ़ौर् इन्वैलिड जेंटल विमन, हार्ले स्ट्रीट' को दान दे दिये।

१३ अगस्त, १९१० की साँझ को वह शान्तिपूर्वक स्वर्ग सिधार गई। अगस्त २० शनिवार को उसे एम्ब्ले पार्क में उसके पुराने घर के पास एक गिरजाघर में धरती माता की गोद में सुला दिया

गया। उसके संरक्षकों ने उसे वेस्टमिंस्टर के गिरजाघर में दबाना स्वीकार न किया। वह दिखावे से सदा घृणा करती थी और उसके स्वभाव के अनुकूल उसका अन्त्येष्टि-संस्कार भी विनीतरूप से ही किया गया।

महारानी विक्टोरिया

संसार के इतिहास में महारानी विक्टोरिया का नाम उनकी दयालुता, योग्यता और विद्वत्ता के लिये सदा आदर और श्रद्धा की दृष्टि से स्मरण किया जायगा। उनका जीवन अपनी प्रजा की हित-चिन्तना में ही बीता। इनके शासन-काल में इंग्लैण्ड और भारत ने अनेक विषयों में बड़ी उन्नति की और प्रजा का ज्ञान तथा सुख बढ़ा। पत्नी, माता, स्त्री और शासन-कर्त्री सभी दृष्टियों से उनके व्यवहार भारतीयों के लिए आदर्श बने और उनकी इस लोकोत्तर योग्यता के कारण ही ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार अधिक हुआ। महारानी अपने समय के महान् व्यक्तियों में से एक हुई हैं। इन्होंने ग्रेट-ब्रिटेन का ६४ वर्षों तक शासन किया।

बाल्यकाल

महारानी विक्टोरिया के पिता जार्ज तृतीय के चौथे पुत्र थे और उनकी माता लुइसा सेक्सकोबर्ग की राजकुमारी थी। विक्टोरिया को गुणवती बनाने का बहुत कुछ श्रेय उनकी माता को है। वे

विक्टोरिया के प्रत्येक कार्य पर कड़ी निगरानी रखती थीं और जहाँ कहीं उन्हें विक्टोरिया में त्रुटि मालूम होती, वहाँ वे उन्हें बतला कर फिर वैसा न होने के लिये सचेत कर देतीं। खान-पान, खेल-कूद और शिक्षा पर भी उनकी माता हर समय कड़ी दृष्टि रखती थीं। यही कारण था कि विक्टोरिया में उन गुणों का संस्कार बचपन में ही पड़ चुका था, जिन गुणों से वे महारानी होने पर जगत्-प्रसिद्ध और लोक-प्रिय हुईं।

छः वर्ष की अवस्था तक विक्टोरिया के राजगद्दी पर बैठने का किसी को भी ज्ञान न था। छः साल के बाद जब राज-परिवार में और कोई बच्चा न रहा, तब सब को निश्चय हो गया कि विक्टोरिया राजगद्दी पर बैठेगी। विक्टोरिया को बचपन से ही विलासिता से दूर रखकर परिश्रमी जीवन बिताने की शिक्षा दी गई थी। वह बचपन में स्वयं अपने बग़ीचे को सींचती थीं। सब को पता था कि एक दिन राजकुमारी सम्राज्ञी होगी। किन्तु लुइसा ने यह बात राजकुमारी को नहीं बताई थी। एक दिन राजकुमारी को उसकी अध्यापिका ने बताया कि अपने चचा के मरने पर तू इंग्लैण्ड की महारानी होगी। राजकुमारी ने आश्चर्य से कहा—'ब्रिटेन की राजगद्दी मेरे इतने समीप है और मुझे इसकी ख़बर तक नहीं।'

अध्यापिका बोली—'तुम्हारी माँ ने इसलिए तुमसे इसे छिपा रखा होगा कि कहीं तुम अभिमानिनी न हो जाओ!'

राजकुमारी ने कहा—'जो लोग रानी बनने की इच्छा से अभिमानी हो जाते हैं, वे उसके उत्तरदायित्व से परिचित नहीं होते।

अब तो मुझ को भली बनना ही होगा। मुझे प्रतीत होता है कि इसी कारण मेरी माँ और आप मेरी शिक्षा पर इतना अधिक ध्यान देती हैं। मैं अवश्य भली बनूँगी।'

अध्यापिका ने कहा—'परन्तु यदि सम्राट् के यहाँ कोई पुत्र उत्पन्न हुआ तो गद्दी पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहेगा।'

राजकुमारी ने उत्तर दिया—'मुझे इससे कुछ भी दुःख नहीं होगा। सम्राट् मुझ से बहुत स्नेह करते हैं।'

राजकुमारी इतनी सरल-हृदया थीं।

विक्टोरिया को धार्मिक शिक्षा भी लुइसा ने भली प्रकार दी थी। विक्टोरिया प्रार्थना के समय तन्मय और तल्लीन होकर सुनती थी। अपना जीवन सदा उसी प्रकार व्यतीत करने के प्रयत्न में रहती थी।

विक्टोरिया की अवस्था १८ साल की ही थी कि एक दिन प्रातःकाल ही, जब विक्टोरिया अभी सो कर भी नहीं उठी थी, केन्टरबरी के लाट पादरी और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री उसके महल में पहुँचे। विक्टोरिया को जगाया गया और यह समाचार दिया गया कि 'सम्राट् मर गए हैं, सम्राज्ञी चिरायु हों।'

महारानी बनते ही विक्टोरिया ने जो पहला आदेश दिया, वह यह था कि सब लोग प्रभु से प्रार्थना करें। प्रार्थना के पश्चात् उन्होंने एक सहानुभूति-सूचक पत्र चाची को लिखा। पत्र में उन्हें महारानी नाम से सम्बोधित किया गया था। इस पर किसी ने आपत्ति की

पर महारानी ने उत्तर दिया—'यह यथार्थ है कि चौथे विलियम की धर्मपत्नी अब महारानी नहीं हैं। पर मैं क्यों उन्हें इस दुर्घटना की याद दिलाऊँ।'

विधिपूर्वक एक वर्ष के बाद धूमधाम से महारानी का राज्याभिषेक किया गया। ब्रिटिश प्रजा ने तब जी भर कर आनन्दोत्सव मनाये।

विवाहित जीवन

२६ वर्ष की अवस्था में सैक्सबर्ग के राजकुमार एलबर्ट के साथ महारानी का विवाह हो गया। सम्राज्ञी होने के कारण बहुत से राजकुमारों ने विक्टोरिया के साथ विवाह करना चाहा, किन्तु उन्होंने अपने बाल्यावस्था के साथी एलबर्ट को ही अन्त में चुना। दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहते थे। महारानी एलबर्ट को प्रसन्न रखना अपना धर्म समझती थीं।

पति की मृत्यु

महारानी के चार पुत्र और पाँच कन्याएँ हुईं। जब महारानी की अवस्था ४२ वर्ष की थी, तब उनके पति प्रिंस एलबर्ट का देहान्त हो गया। इससे उन्हें बड़ा क्लेश पहुँचा और इसके बाद वर्षों तक वह किसी भी प्रकार के उत्सवों में सम्मिलित नहीं हुईं। पति के वियोग का दुःख उन्हें जीवन भर रहा।

महारानी भारत नहीं आईं, किन्तु उनके पुत्र एडवर्ड सप्तम भारत में आए थे। महारानी ने हिंदी सीखी और यहाँ का हाल वह बराबर पढ़ती रहती थीं। भारत से जो प्रामाणिक व्यक्ति इंग्लैण्ड में जाता था, उससे वह बड़े प्रेम से मिलती थीं। भारत में जब कभी अकाल और दुर्भिक्ष पड़ा, वह बराबर सहायता करती रहीं।

स्वर्ण-जयन्ती

महारानी को शासन करते हुए जब ५० साल बीत गये तो सारे ब्रिटिश-साम्राज्य में उनके शासन की स्वर्ण-जयन्ती (गोल्डन जुबली) मनाई गई। इसके दस साल बाद, ६० वर्ष का शासनकाल पूरा होने पर फिर हीरक-जयन्ती (डायमण्ड जुबली) का अवसर आया और सम्पूर्ण ब्रिटिश-साम्राज्य में और भी उत्साह के साथ बड़ा भारी उत्सव मनाया गया।

शासन-काल की घटनाएँ

क्रीमिया का युद्ध महारानी के शासनकाल में हुआ था। १८५३ ई० में फिलस्तीन स्थित ईसाइयों के पवित्र स्थानों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में कैथोलिक पादरियों और पुराने यूनानी क्लीसा के पादरियों में झगड़ा हो गया। नेपोलियन महान् का भतीजा जब नेपोलियन तृतीय के नाम से फ्राँस के सिंहासन पर आसीन था, तब उसने रोमन कैथोलिक पादरियों की और रूस के सम्राट् ज़ार ने यूनानियों की सहायता की। अन्त में निर्णय रोमन कैथोलिक पादरियों के पक्ष में हुआ, किन्तु ज़ार ने सुलतान तुर्की को कहला भेजा कि तुम्हारे साम्राज्य में यूनानी

सिद्धांत के मानने वाले जितने ईसाई हैं, वे मेरे आश्रित रहें। सुलतान ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया और रूस ने तुर्की के इलाके पर आक्रमण कर दिया। युद्ध आरम्भ हो गया और इस युद्ध में इंग्लैण्ड तथा फ्राँस ने तुर्की की सहायता की। तीनों सम्मिलित शक्तियों ने क्रीमिया के प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया, जिसके फलस्वरूप रूस मुकाबले में हार गया। रूस ने तुर्की के अधीन ईसाइयों की रक्षा के दावे को वापस ले लिया और काले सागर पर का अपना अधिकार छोड़ दिया।

सन् १८५७ का विद्रोह

महारानी विक्टोरिया के शासनकाल की दूसरी बड़ी महत्त्व-पूर्ण घटना भारतवर्ष में विद्रोह का होना है। लॉर्ड डलहौज़ी के समय में, उनकी देशी राज्यों को ब्रिटिश राज्य में मिला लेने की नीति के कारण भारतीय देशी राज्यों की प्रजा में असन्तोष का बीज बोया जा चुका था। लॉर्ड कैनिंग जब भारतवर्ष के गवर्नर जनरल नियत हुए, तब सिपाही-विद्रोह के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। देशी सिपाहियों को उस समय इस प्रकार के चिकने कारतूस दिये जाते थे, जिन्हें दाँतों में उकसाकर बन्दूक में भरना पड़ता था। इन कारतूसों के संबन्ध में हिन्दू और मुसलमान सैनिकों में यह धारणा फैल गई कि इन कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी की पालिश रहती है। इस कारण से तथा देशी राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में संमिलित करने की नीति का अवलम्बन करने से भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और दिल्ली,

कानपुर, लखनऊ, मेरठ, झाँसी, फिरोज़पुर आदि नगरों में विद्रोहियों द्वारा सैकड़ों अंग्रेज़ पदाधिकारी मार डाले गए और उन नगरों पर विद्रोहियों ने अपना अधिकार कर लिया। इसके बाद पंजाब की सेना ने दिल्ली पर आक्रमण किया और कुछ दिन के भीतर ही उन्होंने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार लखनऊ, कानपुर और बुंदेलखंड के विद्रोहियों को परास्त करने के लिए भी अंग्रेज़ी सेना भेजी गई और बड़ी कठिनता से विद्रोह का दमन किया गया। जब इस विद्रोह का समाचार महारानी विक्टोरिया ने सुना तो उन्होंने भारत में यह घोषणा करा दी कि अब कम्पनी की जगह भारतीय शासन का भार हमने अपने हाथ में लिया है। हमारी ओर से लार्ड कैनिंग हमारे प्रथम वायसराय नियत होते हैं। जो संधियाँ देशी राज्यों से कम्पनी ने की हैं, वे सब हमें स्वीकार हैं। हम अपना राज्य बढ़ाना नहीं चाहते। हमारे राज्य में प्रजा को अपने धर्मानुसार चलने का पूर्ण अधिकार रहेगा। हमारा कानून सब की रक्षा करेगा। जहाँ तक सम्भव होगा, हम अपनी भारतीय प्रजा को शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर देंगे और कानून बनाने में उनके प्राचीन आचार-विचार की रक्षा करते रहेंगे। सिपाही-विद्रोह के कारण जो कुछ प्रजा को कष्ट पहुँचा है, उसका हमें बड़ा दुःख है।

महारानी की इस घोषणा से प्रजा के व्यथित मन को बहुत संतोष मिला और प्रजा में शान्ति स्थापित हो गई। उन्हीं के शासनकाल में भारत में अनेक सुधार भी किये गये।

६३ वर्ष राज्य करके, ८२ वर्ष की आयु में, महारानी

विक्टोरिया का देहान्त हो गया और इस दुर्घटना से सारे साम्राज्य में शोक छा गया। इनके शासनकाल में ब्रिटिश-साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त कला, कौशल और विज्ञान की भी बड़ी उन्नति हुई। महारानी का स्वभाव बड़ा सरल, दयालु और मिलनसार था।

एनी बेसेन्ट

एक विदेशी महिला होते हुए भी एनी बेसेन्ट ने भारत की जो सेवा की, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य है। भारतीय संस्कृति और साहित्य से वह पूर्ण प्रभावित थीं। एनी बेसेन्ट का जन्म सन् १८४७ ई० के अक्टोबर मास में लंदन नगर में हुआ। उनके पिता अंग्रेज़ थे और माता आयरिश महिला थीं। उनके पिता विलियम पेज उड लंदन के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे। बाल्यकाल में एनी बेसेन्ट कुमारी एनी के नाम से पुकारी जाती थीं। इनके पिता दर्शन और धर्मशास्त्रों के भी विद्वान् थे।

बाल्यकाल

बाल्यकाल में कुमारी एनी को संगीत और यूरोप की विभिन्न भाषाओं की शिक्षा दी गई। विख्यात अंग्रेज़ औपन्यासिक कैप्टन मैरियेट की बहन से आपकी विशेष प्रीति थी। उस काल में वे जर्मनी,

फ्राँस आदि देशों का भ्रमण करने गईं। इस भ्रमण में उन्हें बड़ा अनुभव हुआ।

विवाह

यूरोप भ्रमण के पश्चात् कुमारी उड इंग्लैण्ड वापस आ गईं। इसके बाद सन् १८६७ ई० में रेवरेण्ड मि० फ्रैङ्क बेसेन्ट नामक एक पादरी से इनका विवाह हो गया। विवाह से इनके जीवन की धारा ही बदल गई। रेवरेण्ड बेसेन्ट से उनका मन नहीं मिला। दोनों की प्रवृत्ति, रुचि, शिक्षा और आदर्श सर्वथा पृथक्-पृथक् थे। इन कारणों से उनका विवाहित जीवन दुःखपूर्ण हो उठा। एनी के पिता का देहान्त हो ही चुका था। सन् १८७१ में उनके दोनों बच्चे बीमार हो गये। एनी बेसेन्ट ने उनकी दिन-रात सेवा की। बच्चे मरते-मरते बच तो गये, पर रोगी हो गये। बच्चों के अच्छे होने पर एनी बेसेन्ट स्वयं बीमार हो गईं।

ईश्वर में अविश्वास

इसी समय श्रीमती एनी बेसेन्ट के मन में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। बाल्यकाल की दरिद्रता, पिता की अकाल मृत्यु और बच्चों की बीमारी की पीड़ा से उनके चित्त को बड़ी चोट पहुँची और इससे उनके हृदय में यह धारणा हो गई कि ईश्वर है ही नहीं। इधर पतिदेव से निरन्तर झगड़ा रहता था। वे एनी के ईश्वर पर विश्वास न करने को मूर्खता समझते थे। इन परिस्थितियों से तंग आकर एनी बेसेन्ट ने आत्महत्या करना निश्चित किया। किन्तु

आत्मघात के लिए ज्यों ही वह विष को अपने मुँह के पास ले गईं, भीतर से उनकी आत्मा कराह उठी—'ऐ भयभीता, अभी कल तू शहीद होने का सपना देख रही थी, आज कुछ वर्षों के कष्ट न सह सकी !'

एनी बेसेन्ट का ज्ञान जाग उठा। उसके बाद उन्होंने घोर नास्तिकता के स्थान पर शुद्ध आस्तिकता के ग्रन्थों का पढ़ना आरम्भ किया। पूर्व की भी पुस्तकें पढ़ डालीं। फिर भी मन को शान्ति नहीं मिली। पर बाद में किसी घटना से उन्होंने दुखियों की सेवा करने का निश्चय कर लिया। और वे समझ गईं कि कष्ट ही मनुष्य को परखने की कसौटी है। मनुष्य की परीक्षा का यही साधन है। विपत्तियों का सामना किये बिना मनुष्य अपूर्ण रहता है। इन सब बातों से उन्हें बहुत कुछ शान्ति मिली तथा ईश्वर में दृढ़ विश्वास हो गया।

पति का परित्याग

सन् १८७३ में एनी बेसेन्ट का जीवन एकदम पलट गया। उनके पति को लोगों ने उकसाया कि ऐसी स्त्री को अपनी पत्नी बनाकर रखना कहाँ तक उचित है, जो न तो गिरजाघर में जाती है और न ईसा को पवित्र ईश्वरीय पुत्र स्वीकार करती है। अन्त में पादरी बेसेन्ट को अपनी स्त्री से कहना पड़ा कि या तो तुम अपने धार्मिक विचार बदलकर गिरजाघर आने जाने के विवाद को बंद करो अन्यथा यह घर छोड़ दो।

ऐनी बेसेन्ट की आयु उस समय २६ वर्ष की ही थी। एनी बेसेन्ट को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो अपने सिद्धान्तों के लिए शहीद होने का अवसर उनके लिए आ गया। उन्होंने पति को छोड़ना ही उचित समझा और तलाक दे दिया। पति ने उनके लिये एक ऐसी पेन्शन बाँध दी, जिससे वे केवल अपना ही निर्वाह बड़ी कठिनता से कर सकें।

नई समस्या

तलाक़ के पश्चात् एनी बेसेन्ट बड़ी प्रसन्न हुईं। अदालत ने उनकी कन्या को उनके साथ ही रहने की आज्ञा दे दी थी। अब उनके लिये अपने विचारों के अनुसार चलने का मार्ग खुल गया। पराधीनता जाती रही। पर उनके सामने अपनी बूढ़ी माता और छोटी बच्ची के भरण-पोषण की समस्या बड़ी भयानक थी। बड़ी कठिनता से इधर-उधर ठोकरें खाने पर बहुत थोड़ी आय का काम उन्हें मिला। कुछ दिनों बाद उनकी माता का देहान्त हो गया। इससे इन्हें बड़ा दुःख हुआ। उधर आर्थिक कष्ट तो था ही।

लेखन-शक्ति

एनी बेसेन्ट में लेखन-शक्ति पहले से ही थी। पहले उन्होंने एक धर्मविषयक पुस्तक लिखी और कुछ कहानियाँ भी लिखीं। पुस्तक किसी भी प्रकाशक ने नहीं ली। एक कहानी उन्होंने 'फ़ेमिली हेरल्ड' समाचार पत्र में छपने के लिए भेजी। इसका पुरस्कार उन्हें ३० शिलिंग मिला। लिखने के फल-स्वरूप यह उनकी पहली आय थी।

इसके बाद उन्होंने कई छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं, जिन पर उन्हें निरन्तर पुरस्कार मिलता रहा। पर इस आय से आर्थिक कष्ट कम नहीं हो सका। इस बीच में उन्हें मि० स्कॉट नामक एक व्यक्ति से बड़ी सहायता मिली।

एक दिन श्रीमती एनी बेसेन्ट स्वतंत्र विचार वालों की सभा में गईं और वहाँ चार्ल्स ब्रैडला नामक अति प्रसिद्ध व्याख्याता का 'ईसा तथा कृष्ण की तुलना' विषय पर उन्होंने व्याख्यान सुना। इस व्याख्यान से वह बड़ी प्रभावित हुईं और चार्ल्स ब्रैडला से इनका परिचय हो गया। इस विद्वान् पुरुष ने एनी बेसेन्ट को अपने विचारों से प्रभावित कर पूर्ण निरीश्वरवादी बना दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में

धार्मिक विषयों में अधिक दिलचस्पी होने पर भी एनी बेसेन्ट को राजनीतिक क्षेत्र में आना पड़ा। यह समय ब्रिटिश साम्राज्य की उन्नति का था और यही समय इंग्लैंड के अधीनस्थ राज्यों में स्वाधीनता की भावना उत्पन्न होने का भी था। आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों के विरुद्ध भाव बहुत तीव्र हो गये थे। मिश्र में साम्राज्य के विरुद्ध जनता में प्रबल आन्दोलन जारी थे। दक्षिण अफ्रीका में ट्रान्सवालवासी अभागे भारतीय कुलियों की दुर्दशा भारत-सरकार के लिये लज्जाजनक सिद्ध हो रही थी। भारतीय जनता में भी कांग्रेस द्वारा संचालित स्वराज्य-आन्दोलन बल पकड़ रहा था। इंग्लैण्ड में भी श्रमिकों और ग़रीबों की बुरी दशा थी।

एनी बेसेन्ट पर इन बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे विचलित हो उठीं। उन्होंने अपनी शक्ति पीड़ितों के पक्ष में लगा दी। वे चारों ओर सभायें कराने लगीं। इन सभाओं में अंग्रेज़ प्रजा को सरकार के अत्याचारों का वर्णन सुनाया जाता था और पीड़ितों से कहा जाता था कि वे अपने बल पर खड़े होने का प्रयत्न करें। ब्रैडला महोदय के साथ मिलकर एनी बेसेन्ट ने 'नेशनल रिफार्मर' पत्र का सम्पादन भी शुरू किया। ब्रैडला की मृत्यु तक वह उस पत्र की उप-सम्पादिका रहीं। इससे उन्हें पत्र-सम्पादन-कला का अच्छा अनुभव हो गया। इस समय उनकी लेखन-शक्ति तो बहुत विकसित हो ही चुकी थी, इसके अतिरिक्त इनके व्याख्यान भी बड़े प्रभाव-शाली होते थे। सार्वजनिक क्षेत्र में जहाँ एनी बेसेन्ट को यश प्राप्त हुआ, वहाँ ब्रैडला के साथ उन्हें तरह-तरह के अपमान भी सहने पड़े।

सत्य की प्राप्ति

जिस सत्य के पीछे वह पागल-सी घूम रही थीं, वही सत्य क्रमशः उनके हाथ में आ गया। अचानक उनकी उस महिला से भेंट हो गई; जो दया और ममता की अवतार, साथ ही साथ ईश्वरीय विश्वास की भी पवित्र मूर्ति थीं। यह थीं श्रीमती ब्लैवेट्स्की। एनी बेसेन्ट सरीखी अति उच्च चरित्रवाली पवित्र आत्मा को अपनाते श्रीमती ब्लैवेट्स्की को क्या देर लगती थी?

श्रीमती ब्लैवेट्स्की थियोसोफ़िकल समाज की संस्थापिका थीं। सन् १८७५ में उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका में इस समाज की

स्थापना की थी। थियोसोफ़ी का अर्थ है—'दैवी ज्ञान'। श्रीमती ब्लैवेट्स्की द्वारा इसके सिद्धान्तों का एनी बेसेन्ट पर पूरा प्रभाव पड़ा। अब इन्होंने अपने कार्य-क्रम को बदल दिया। उन्हीं के कथनानुसार उन्हें एक वास्तविक सत्य का दर्शन हुआ।

भारत के लिये आन्दोलन

उन दिनों आयर्लैंण्ड में स्वातंत्र्य-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। इस कारण ब्रिटेन की नीति से खीझी हुई एनी बेसेन्ट ने भारत तथा आयर्लैंण्ड के लिये तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार वह मि० ब्रैडला के साथ उत्साहपूर्वक कार्य करने लगीं। इस न्याय-युद्ध के कारण चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई। नास्तिकता के दिनों में भी वे अपने त्याग और विचारों के लिये सम्मानित थीं। देश-विदेश से बड़े-बड़े आस्तिक इनके पास पत्र भेजकर गूढ़ धार्मिक विषयों पर इनसे चर्चा करते थे। इंग्लैण्ड में उनके आन्दोलन का उद्देश्य श्रमिक और ग़रीब श्रेणी के लोगों को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में प्रतिनिधित्व दिलाकर उनके कष्टों को मिटाना था। इस आन्दोलन का बड़ा प्रभाव पड़ा और कई घटनाएँ घटीं। इन्होंने मि० ब्रैडला को पार्लियामेन्ट का मेम्बर चुनवाने के कार्य में बड़े कष्ट सहे। अन्त में बड़े विरोध और कई घटनाओं के बाद मि० ब्रैडला मेम्बर चुन लिए गए। पार्लियामेन्ट में मि० ब्रैडला श्रमिकों और मज़दूरों के पक्ष में तथा भारत और आयर्लैंण्ड में सरकार की नीति के विरोध में सदा प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार वे बराबर भारत की समस्याओं की ओर पार्लियामेन्ट का ध्यान खींचते रहे।

कुछ दिनों बाद ऐनी बेसेन्ट और ब्रैडला में मतभेद हुआ और दोनों के कार्यक्षेत्र बदल गये। इसके बाद इन्होंने मनुष्यमात्र की सेवा के लिये 'लिंक' नामक अख़बार निकाला, जिसका उद्देश्य जनता की सेवा के साथ-साथ एक विशेष सिद्धान्त (थियोसोफ़ी) का प्रचार भी था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई प्रभावशाली संस्थाओं की स्थापना भी की, जिनका प्रधान उद्देश्य मज़दूरों के कष्ट कम करना था।

श्रीमती ब्लैवेट्स्की से प्रभावित होकर एनी बेसेन्ट ने थियोसोफ़ी धर्म स्वीकार कर किया, जिससे सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक निरीश्वरवादी को ईश्वर में विश्वास करने वाला बनाना श्रीमती ब्लैवेट्स्की के लिए बड़े गौरव की बात थी। कुछ दिनों बाद उनके उत्साही साथी नेता मि० ब्रैडला का देहान्त हो गया। इसी वर्ष इनकी गुरुदेवी ब्लैवेट्स्की का भी देहावसान हो गया और मरते समय वे अपना सारा कार्य-भार एनी बेसेन्ट के अधीन कर गईं। ब्लैवेट्स्की ने थियोसोफ़िकल समाज तथा दरिद्रों के लिये अपनी विशाल धन-राशि ही नहीं, अपितु अपना जीवन ही अर्पित किया हुआ था। उनका जीवन परोपकार का एक जीता-जागता उदाहरण था। एनी बेसेन्ट उनकी सब से अधिक प्रिय शिष्या थीं। सत्य के लिये श्रीमती बेसेन्ट ने अपने सगे नातेदारों तक को छोड़ा था, सत्य के ही लिये उन्होंने अनेक त्याग किये और असंख्य कष्ट सहे।

रचनाएँ

इस दैवी ज्ञान के पीछे एनी बेसेन्ट ने बड़ा कठिन परिश्रम

किया और बड़ा अध्ययन किया । थियोसोफ़ी धर्म में प्रत्येक मत का 'पैग़म्बर' सत्य को खोजने वाला तथा विश्वरूपी कक्षा का अध्यापक समझा जाता है । एनी बेसेन्ट ने सभी धर्मों का पर्याप्त अध्ययन किया था । 'थियोसोफ़ी' नामक पत्र में ये अपने लेखों द्वारा ज्ञान-वर्षा किया करती थीं । भारतीय स्वराज्य-आन्दोलन के पक्ष में भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा । थियोसोफ़ी पर उनकी 'प्राचीन विद्या' नामक पुस्तक पढ़ने योग्य है । 'महासमर की कहानी' में महाभारत की कथा को उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से लिखा है कि भारत की सभी भाषाओं में उसका अनुवाद हो गया है । भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता का उन्होंने अंग्रेज़ी में अत्यन्त सुन्दर अनुवाद किया । इस अनुवाद की अब तक लाखों प्रतियाँ छप चुकी हैं । भारत-धर्म पर भी उन्होंने एक बहुमान्य पुस्तक लिखी ।

एनी बेसेन्ट ने भारतीय धर्मों का गहरा अध्ययन किया था । हिन्दू-धर्म पर उनकी बड़ी भक्ति थी । हिन्दू-धर्म की बहुत-सी गूढ़ बातों को उन्होंने अपने 'थियोसोफ़िकल-समाज' में भी ले लिया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-धर्म की छाया ने थियोसोफ़ी (दैवी ज्ञान) के धर्म को भी चमका दिया । वास्तव में यह धर्म हिन्दू-धर्म का एक भागमात्र है ।

भारत में

एनी बेसेन्ट ने भारत पर सब से बड़ा उपकार यह किया कि इस देश के निवासियों के हृदयों में भारतीय धर्म के प्रति आदर का भाव उत्पन्न कराया तथा उनके हृदयों में अपनी सभ्यता के प्रति प्रेम

जागृत किया। उस समय भारतवर्ष में अंग्रेज़ी शिक्षा से प्रभावित होकर स्कूली लड़के अपने रीति-रिवाज, पहनावे, सभ्यता तथा धर्म से घृणा कर ईसाई धर्म की ओर झुकने लगे थे, किन्तु एनी बेसेन्ट ने उनकी आँखें खोल दीं। अपने व्याख्यानों और लेखों से इस क्षेत्र में इन्होंने जागृति की लहर फैला दी। भारत-सरकार की नीति की भी इन्होंने कई बार कड़ी आलोचना की। मि० ब्रैडला भी भारत की ओर से पार्लियामेन्ट में बहुत बोलते थे। वे १८७० ई० में राष्ट्रीय महासभा की बैठक में सम्मिलित होने के लिए भारत में आये थे। इस देश में उनका स्वागत बड़े समारोह से हुआ था।

सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना

थियोसोफ़ी का काम करते समय एनी बेसेन्ट का ध्यान भारत की दीन अवस्था की ओर खिंचा और भारत में थियोसोफ़ी का प्रचार करने तथा राजनीतिक लड़ाई लड़ने के लिये वह भारत में चली आई। जब एनी बेसेन्ट ने देखा कि यहाँ की शिक्षा-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है और उससे विद्यार्थियों पर यूरोपीय सभ्यता का बुरा प्रभाव पड़ रहा है तथा भारतीय-सभ्यता और धर्म से उनकी रुचि हट रही है तब उन्होंने इस लक्ष्य से एक ऐसा स्कूल खोलने का निश्चय किया, जिसमें हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म की शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजित करने की शिक्षा भी दी जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने काशी नगर को चुना। काशी हिन्दू-सभ्यता का घर रहा है। इसलिये वहीं पर थियोसोफ़िकल समाज का प्रधान केन्द्र रखा गया। इसी उद्देश्य से जुलाई सन् १८९८

में कर्नल आलकाट आदि की सहायता से एनी बेसेन्ट ने वहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। यह कालेज आगे चलकर विश्व-विख्यात हिन्दू-विश्व-विद्यालय के रूप में परिणत हो गया। इसी कालेज में उन्होंने कन्याओं के लिये भी एक बड़ा अच्छा स्कूल स्थापित किया। थियोसोफ़िकल समाज की ओर से दक्षिण के मदनपल्ली नगर में भी थियोसोफ़िकल विद्यालय खोला गया।

थियोसोफ़िकल समाज की अध्यक्षता

सन् १९०७ में अत्यधिक वोटों से एनी बेसेन्ट थियोसोफ़िकल समाज की अध्यक्षा चुनी गईं। यह पद परम धार्मिक भी होता है। इस बीच समाज के संगठन तथा प्रचार के लिये ये कितनी ही बार यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया गईं। 'संसार में सब भाई हैं' 'विश्व के सभी देशवासी परस्पर बंधु हैं' 'विश्व-बन्धुत्व' यही थियोसोफ़ी का मूल-मंत्र है। समाज की सभाओं में और सम्मेलनों में इस मूल-मन्त्र का श्रीमती एनी बेसेन्ट बड़े उत्साह से प्रचार करती थीं।

श्रीकृष्णमूर्ति

एनी बेसेन्ट तथा उनके कुछ प्रगाढ़ मित्रों में आगे चलकर एक विषय पर गहरा मतभेद हो गया। यह विषय कृष्णमूर्ति का था। एनी बेसेन्ट कृष्णमूर्ति नाम के एक सज्जन को भगवान् के यहाँ से भेजा विश्व-अध्यापक मानती थीं। आपका कहना था कि यह कृष्ण के अवतार हैं।

कृष्णामूर्ति की शिक्षा अत्यधिक उच्च है, और वे एक सुन्दर युवक हैं। उनकी वाणी में मिठास है। इंग्लैण्ड में रहकर इनकी शिक्षा पूरी हुई और वे संसार को आत्मा के प्रेम का और स्वतंत्रता का संदेश दे रहे हैं। यही कृष्णामूर्ति इस समय, श्रीमती बेसेन्ट के अनुयायी थियोसोफ़िस्टों के अनुसार जगद्गुरु हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह योग्यता और विद्वत्ता में बहुत बढ़े-चढ़े हैं।

होम-रूल

एनी बेसेन्ट ने थियोसोफ़ी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए 'कामन-वील' नामक एक अंग्रेज़ी अख़बार निकाला, पर कुछ दिनों बाद उसे बंद कर दिया। इसके बाद उन्होंने मदरास में 'न्यू इंडिया' नामक पत्र निकाला और उसकी सम्पादिका वह स्वयं बनीं। 'न्यू इंडिया' एनी बेसेन्ट के शब्दों में, भारत के लिए होम-रूल (स्वराज्य) के स्वप्न को सत्य करने की इच्छा से प्रकाशित हुआ था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश-साम्राज्य के अधीन अन्य उपनिवेशों की भाँति भारत में भी स्वराज़्य स्थापित करना था।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा

कांग्रेस वर्षों से यह माँग उपस्थित कर रही थी कि भारतवासियों को अपने देश पर स्वयं शासन करने का अधिकार मिले। एनी बेसेन्ट ने कांग्रेस की इस आवाज़ को अपनी आवाज़ बना लिया और १९१५ ई० की बम्बई-कांग्रेस में एनी बेसेन्ट ने स्वराज्य की माँग संमुख रखी। बम्बई-कांग्रेस के बाद से उन्होंने भारतीय स्वराज्य के लिये

आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। देश भर में घूमकर वह भारतीय जनता को यह सन्देश देने लगीं कि सभी भारतवासियों को मिलकर स्वराज्य की माँग पेश करनी चाहिए। और इस विषय पर उन्होंने पुस्तकें भी लिखीं, जो बहुत प्रसिद्ध हुईं। कांग्रेस के स्वीकृति न देने पर भी उन्होंने भारतीयों में स्वराज्य के भावों का प्रचार करने के लिये 'होमरूल-लीग' (स्वराज्य-संघ) नामक संस्था खोल दी। इस आन्दोलन के कारण बम्बई-सरकार ने सन् १६१६ की जुलाई में एनी बेसेन्ट का बम्बई-प्रवेश निषिद्ध कर दिया और फिर मध्य प्रदेश में भी वहाँ की सरकार ने उनका प्रवेश रोक दिया।

मद्रास के गवर्नर ने उन्हें राजनीतिक आन्दोलन से हाथ खींचने को कहा, किन्तु इन्होंने निर्भीकतापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप वह गिरफ़्तार करके नज़रबन्द कर दी गईं। नज़रबन्दी में उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। इनकी गिरफ़्तारी से देश में उत्तेजना फैली और आन्दोलन ने बल पकड़ लिया। इसके बाद वह और इनके साथी छोड़ दिये गये। उनका सभी जगह, जहाँ-जहाँ वह गईं, अत्यंत प्रतिष्ठापूर्वक स्वागत हुआ। इन्हीं दिनों सरकार ने भारत-मंत्री की यह घोषणा प्रकाशित की कि 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य का उद्देश्य स्वराज्य देना है, और भारत-मंत्री यहाँ की अवस्था की जाँच करने स्वयं आवेंगे।'

सन् १६१७ में श्रीमती एनी बेसेन्ट भारत की सब से बड़ी राजनीतिक संस्था कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गइ। इस प्रकार भारत ने इन्हें अपना सब से बड़ा सम्मान देकर गौरवान्वित किया।

मांटेगू-सुधारों की श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कड़ी आलोचना की और उन्हें भारत के लिए अपमानजनक बताया। इस सुधार से सभी लोग असन्तुष्ट थे। उस समय कांग्रेस में दो दल हो गए थे—एक नरम और दूसरा गरम। एनी बेसेन्ट नरम दल की समर्थक थीं। गरम दल वालों से उनका मतभेद रहा। इस प्रकार वे कांग्रेस के कार्यों की कभी प्रशंसक और कभी आलोचक हो जाती थीं। कुछ दिनों बाद अनेक कारणों से 'न्यू इंडिया' पत्र बन्द हो गया। कांग्रेस की उग्र नीति से और असहयोग-आन्दोलन से उनका घोर विरोध रहा। लिबरल दल का उन्होंने अन्त तक साथ दिया। उनके राज-नीतिक विचार चाहे जो कुछ रहे हों, यह निस्संकोच कहना पड़ेगा कि उन्होंने भारत की सेवा के लिए जो प्रयत्न किया, वह भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने थियोसोफ़िकल सोसायटी को एक विशाल रूप दिया और उसे एक उन्नत सार्वजनीन धर्म बनाया। भारतीय राजनीतिक आन्दोलन की गति को उन्होंने आगे बढ़ाया और भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिये सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। ये कार्य ऐसे हैं, जिन्हें भारत कभी नहीं भूल सकता।

सन् १९३० में ८० वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ। और तब सारे देश में शोक छा गया। वे यूरोपियन थीं, पर उनका हृदय भारतीय था। उनका जीवन भारतीय संस्कृति और धर्म से ओतप्रोत

था। श्रमिकों और ग़रीबों के लिये उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट झेले और त्याग किये। वे करुणा और निर्भीकता की साक्षात् मूर्ति, विश्व-प्रेम की देवी, दुखियों की पीड़ा से पीड़ित विश्व की महान् विभूति आज भले ही इस संसार में नहीं हैं, किन्तु उनका आदर्श, उनका नाम और उनके कर्म इस संसार में अमर रहेंगे। संसार की नारी-जाति की वह जगमगाती दिव्य ज्योति थीं। उनका जीवन घटनाप्रधान था। उनका साहस, त्याग, कष्टसहिष्णुता, धैर्य, निर्भीकता और उनके धार्मिक तथा राजनीतिक विचार संसार में जीवन के आदर्श के लिये उदाहरण रूप रहेंगे।

श्रीमती क्यूरी

वीरांगनाओं और रानियों की कहानियाँ तो आपने बहुत पढ़ी होंगी परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने वाली किसी भी स्त्री का नाम न सुना होगा। आज हम ऐसी ही एक विदुषी की कहानी सुनाते हैं, जिसके आविष्कारों ने वैज्ञानिक अनुसंधान में एक क्रान्ति का युग उपस्थित कर दिया है।

मेरी स्क्लोडोस्का का जन्म वार्सा नगर में ७ नवंबर १८६७ को हुआ। उसका पिता एक कालेज में साइन्स का प्रोफ़ेसर था। उसकी माता भी यूनिवर्सिटी में अध्यापिका थी। पर वह नन्हे-नन्हे बच्चों छोड़कर जवानी में ही मर गई थी। डाक्टर स्क्लोडोस्का को विज्ञान के लिये सच्ची लगन थी और वे पदार्थ-विद्या पढ़ाते हुए परीक्षण और प्रतिपादन पर विशेष ज़ोर दिया करते थे। इस विषय के पुराने ढर्रे के अध्यापकों से, जो पदार्थ-परीक्षण को निरा बच्चों का खेल समझते थे, उनका सर्वदा मतभेद रहता था। उन दिनों रसायन-

शाला की संयोजना में बहुत थोड़ा धन व्यय किया जाता था। डा० स्क्लोडोस्का को बहुत सी परीक्षण-सामग्री तो अपनी गाँठ से ही ख़रीदनी पड़ती थी। पर वे इतने धनाढ्य न थे कि बोतलें धोने और वस्तुओं को यथास्थान रखने के लिये नौकर रख सकें। इसलिए जब उनकी लड़की मेरी ने इस झाड़-पोंछ के काम में उनकी सहायता करनी आरंभ कर दी, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। पहले-पहल तो उन्होंने इस सहायता को बाल्य-सुलभ खिलवाड़ ही समझा। पर जब उन्होंने देखा कि बच्ची प्रत्येक रसायन-क्रिया में भी अनुराग दिखाती है, तो उनके आनन्द की सीमा न रही और उन्होंने उसे विद्यालय में भेजने से पहले घर में ही पढ़ाना आरंभ कर दिया।

विद्यालय में प्रविष्ट होने के पीछे भी वह अपने पिता की सहायता करती रही। और जब वह कुछ सयानी हो गई तो पिता के अगले दिन के काम के लिये शाम को ही सब सामग्री की आयोजना कर दिया करती थी। उसका सारा बचपन रसायन-शाला में ही बीता और अपने पिता की सहायता करने में वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई।

उसकी योग्यता के कारण कालेज के विद्यार्थी उसे नन्ही प्रोफ़ेसर कहा करते थे। उसके पिता जब रात्रि को, दूसरे दिन पढ़ाने वाले पाठ की तैयारी किया करते, तो वह उनके पास बैठ जाती। इस प्रकार उसकी वैज्ञानिक शिक्षा शाम को घर पर और साधारण शिक्षा दिन में विद्यालय में हो जाती। वह लिखती हैं—'विज्ञान के लिये मेरी रुचि तो आरंभ से थी ही। पर मेरे पिता ने मेरे अंदर

वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये विशेष अभिरुचि कूट-कूट कर भर दी थी।'

रसायन-शाला के अन्दर तो परिश्रम था, शान्ति थी; पर बाहर जनता के हृदय में विद्रोह की अग्नि जल रही थी। उत्तरीय पोलैंड रूस के अधीन था। वार्सा पोलिश संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र था। रूस इस संस्कृति का सर्वथा नाश करना चाहता था। वहाँ पोलिश भाषा का पढ़ाना निषिद्ध था। जातीय नृत्य गीतादि सभी बंद करा दिये गए थे। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक पोलैंड-वासी के हृदय में देश-भक्ति की ज्वाला धधक उठी। लोग पोलिश भाषा का पहले से भी अधिक अध्ययन करने लगे। बच्चे ऊपर रूसी पुस्तक रखकर नीचे पोलिश पुस्तक छिपा लेते और इस तरह अपनी भाषा सीखने लगे। इस अपराध का दण्ड देश-निकाला था। अपराधी को साइबेरिया के मरुस्थल में निर्वासित कर दिया जाता था। पर सभी लोग इस दंड का स्वागत करने के लिये तत्पर रहते थे। अपने पिता और उसके मित्रों और छात्रों की बातें सुनकर मेरी के हृदय में भी देश-भक्ति की तरंग जाग्रत हुई। राजकीय गुप्तचरों को इस रहस्य का पता चल गया और बेचारी को वैज्ञानिक अध्ययन के लिये वार्सा छोड़कर दक्षिण के क्रेको नगर में जाना पड़ा।

कुछ काल पीछे रूस में उसने बच्चों को पढ़ाने के लिये एक रूसी के घर नौकरी कर ली। नौकरी क्या की, मानो सिंह के मुख में सिर दे दिया। उसे अब ज्ञात हुआ कि पोलैंड-निवासियों पर रूसी कितना अत्याचार करते हैं। एक रात को वह बुढ़िया का वेश धारण

करके उस घर से भाग निकली और पेरिस में जाकर अपनी आजीविका का सहारा ढूँढने लगी।

उस समय उसकी आयु बीस वर्ष से कुछ ही अधिक होगी। न पास पैसा, न कोई मित्र, न बन्धु। अकेली ही अपनी बुद्धि पर भरोसा किये विदेश में जा पहुँची और नगर के पूर्व की ओर एक मकान में चौथी छत पर एक छोटा-सा कमरा किराये पर ले लिया। इतनी ऊँचाई पर ईंधन आदि स्वयं उठाकर ले जाती। प्रति दिन उसका व्यय केवल एक फ्रॉंक होता था, जो वह घरों में बच्चों को पढ़ाकर अथवा सोर्बोन रसायन-शाला में बोतलें धोकर, भट्टी झोंक कर और रसायन-सामग्री तय्यार करके वह बड़ी कठिनता से कमाया करती थी। यहाँ उसकी कार्यकुशलता और प्रतिभा को देखकर दो बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति चकित रह गए। उनमें से एक था पदार्थ-विद्या-विभाग का मुखिया गेब्रिएल लिपमन, जो अपनी रंगदार फ़ोटोग्राफ़ी के कारण जगद्-विख्यात है, और दूसरा था प्रसिद्ध गणितवेत्ता हेनरी प्वाइन्‌केर।

उन्होंने इस लड़की की राम-कहानी सुनी और वार्सा में इसके पिता को लिखा। इस लिखा-पढ़ी से मेरी की पढ़ाई का प्रबन्ध हो गया और वह पदार्थ-विद्या में डिग्री प्राप्त करने की चेष्टा करने लगी। तीन साल के अनथक परिश्रम के पश्चात् वह गणितशास्त्र तथा पदार्थ-विज्ञान (लाइसेंश्येट इन मेथेमेटिक्स एण्ड फ़िज़िक्स) की परीक्षा में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उत्तीर्ण हो गई।

सन् १८९४ ई० के वसन्त ऋतु में पिअरे क्यूरी नाम के एक नवयुवक से क्यूरी की भेंट हुई। क्यूरी की आयु ३५ वर्ष की थी। बाप डाक्टर था और अधिकतर ग़रीब देहातियों की सेवा-शुश्रूषा में लगा रहता था। आयु कोई अधिक न थी और घर-गृहस्थी का निर्वाह बड़ी कठिनता से होता था। पिता को प्राकृतिक इतिहास के पढ़ने की बहुत रुचि थी। इसलिये उसने अपने दोनों बेटों को वनस्पति-शास्त्र और जीव-शास्त्र की शिक्षा बचपन में ही दे डाली। पिअरे को उन विद्याओं से, जिनका जीवन में कोई लाभ न दिखाई पड़ता हो, विशेष प्रेम न था। वह स्थूल तथ्यों का आदर करता था और अपने निजी अनुभव से उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। इसी लिये गणित विद्या में उसकी रुचि स्वाभाविक थी। पिता ने उसे पढ़ाने के लिये एक शिक्षक रख दिया, जिसकी सहायता से उसने अध्ययन में इतनी उन्नति की कि उन्नीस वर्ष की आयु में ही वह पेरिस यूनिवर्सिटी के विज्ञान-विभाग की प्रयोग-शाला में सहायक के पद पर नियुक्त हो गया। यहाँ उसने अपनी योग्यता, सहानुभूति और सज्जनता से अपने शिष्यों को अपना भक्त बना लिया।

इस प्रकार काम में लगे हुए और शिष्य-मंडली तथा कुटुम्ब का पालन करते हुए पिअरे को कई वर्ष व्यतीत हो गए। उसके मन में कोई बड़ी सांसारिक लालसाएँ न थीं। हाँ, कभी कभी उसे ध्यान आता कि यदि उसे कोई ऐसी जीवन-सङ्गिनी मिल जाय, जो न केवल उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी हो, वरन् उसके कार्य में उसका हाथ भी बटा सके, तो वह अपने जीवन को कृतार्थ समझेगा।

और सचमुच ऐसा ही हुआ। उसकी मेरी से भेंट हुई। दोनों में कई एकगुण समान थे। दोनों ही गरीब थे। दोनों ही काम से प्रेम और आलस्य से घृणा करते थे। दोनों ही को संसार में विज्ञान से अधिक अन्य कोई वस्तु प्रिय न थी। दोनों परिश्रमी, चिन्तनशील और एकाग्रचित्त थे। दोनों का जीवन सादा था, कोई व्यसन न था और दोनों ही प्राकृतिक सौन्दर्य और कला-कलाप की परख रखते थे। इसलिये उनमें एक दूसरे के लिये नैसर्गिक सहानुभूति हो गई। शीघ्र ही लिपमन ने मेरी को पिअरे क्यूरी की शिष्या बना दिया और वे दोनों साथ-साथ काम करने लगे।

अभी इस साहचर्य के कुछ मास ही बीते होंगे कि पिअरे ने मेरी को लिखा—'क्या ही अच्छा हो, यदि हम दोनों जीवन-संगी बनकर विज्ञान और मानव-जाति के उपकार में लग जायँ!'। मेरी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सन् १८९५ में उन दोनों का विवाह हो गया। इसी वर्ष रींटजेन (Rentgen) ने एक्स-रे का आविष्कार किया था।

यद्यपि उन दोनों की आय मिलाकर भी बहुत अधिक न थी। तथापि जोड़-जाड़कर उन्होंने किसी न किसी प्रकार से एक छोटी-सी गृहस्थी बना ली। उनको इससे अधिक की इच्छा भी न थी। क्योंकि उनका वास्तविक जीवन तो रसायन-शाला में ही व्यतीत होता था। विवाह के पहले दिन से ही वे एक दूसरे के कार्य में सहयोग देने लगे। इस प्रकार मेरी की वैज्ञानिक शिक्षा जारी रही और उसने गणित और पदार्थ-विद्याओं में प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिए।

सन् १८९६ में बेकरल ने इस बात का आविष्कार किया कि यूरेनियम धातु से भी एक प्रकार की रश्मियाँ निकलती हैं, जो एक्स-रे की भाँति स्थूल पदार्थों के पार हो जाती हैं। इस आविष्कार से दोनों पति-पत्नी बड़े प्रभावित हुए और श्रीमती क्यूरी ने इस विषय में पूरा अन्वेषण करने का निश्चय कर लिया। अनेक सूक्ष्म विश्लेषण करने के पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ कि जिस खान से पिच-ब्लेंड प्राप्त किया जाता है, उसके पत्थर में एक और नया तत्त्व विद्यमान है। श्रीमती क्यूरी ने अपने देश के नाम पर उस तत्त्व का नाम पोलोनियम (Polonium) रख दिया। अधिक अन्वेषण करते-करते उन्हें एक और पदार्थ मिल गया, जिसने वैज्ञानिक-जगत् में हलचल मचा दी। आठ टन खनिज द्रव्य में से उस पदार्थ का केवल आधा चमचा प्राप्त हुआ। इस पदार्थ की रश्मि-वेधन-शक्ति (Radio-activity) यूरेनियम से लाखों गुना अधिक थी। इसका नाम उन्होंने रेडियम रखा।

यह आविष्कार अनथक परिश्रम और तपस्या का फल था। महीनों के निरंतर परिश्रम के पश्चात् रेडियम की यह थोड़ी-सी मात्रा ही उन्हें मिली थी। अब उन्हें अपने काम को प्रचलित रखने के लिये रसायन-शाला की आवश्यकता पड़ी। सोर्बोन (Sorbonne) रसायन-शाला में लकड़ी का एक टूटा-फूटा हाल फ़ालतू पड़ा था। छत चूती और दीवारों में से वायु छनती थी। उस जीर्ण कमरे के अंदर, जहाँ सदा धूल उड़ती रहती थी, उन बेचारों के लिये काम करना बहुत ही कठिन था।

दूसरी वस्तु, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी, वह थी पिच-ब्लेंड। यह बहुत महँगी थी। उनकी सामर्थ्य नहीं थी कि वे उसे ख़रीद सकें। सौभाग्य से यह समस्या शीघ्र ही हल हो गई। वियाना की एकेडमी ऑफ् साइंस ने ऑस्ट्रिया की एक खान से यूरेनियम निकाल लिया था और कई टन पिच-ब्लेंड बच रहा था। एकेडमी ने वह सारा का सारा उन्हें भेंट कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी प्रकार की भी आर्थिक सहायता या सहयोग न मिला। दो साल तक वे दोनों निरन्तर परिश्रम करते रहे और रेडियम का क्षार बनाने तथा उसके गुणों की खोज में लगे रहे। पति-पत्नी दोनों ने अपना जीवन अपने कर्तव्य पर समर्पण कर रखा था और प्रत्येक कार्य में एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते थे। क्या घर, क्या रसायन-शाला और क्या सिद्धान्त-निरूपण, कहीं भी वे एक दूसरे से पृथक् न होते थे। उस समय के विषय में श्रीमती क्यूरी लिखती हैं:—

'ग्यारह वर्ष के सहवास में हम एक दूसरे से क्षण भर भी जुदा नहीं हुए। यहाँ तक कि इतने लम्बे समय में परस्पर पत्र-व्यवहार की थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही मिलेंगी।' बड़े घोर परिश्रम के उपरांत १६०२ में श्रीमती क्यूरी ने शुद्ध रेडियम क्लोराइड की एक अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा (डेसीग्राम) तैयार कर ली। इस मात्रा से उसने शुद्ध रेडियम के परमाणु-भार (Atomic weight) का निर्णय करके निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि रेडियम भी एक नया मूल तत्त्व है। उसने इस विषय पर एक बड़ा विस्तृत लेख लिखकर पैरिस यूनिवर्सिटी को भेजा, जहाँ से उसे डाक्टर ऑफ़ साइंस की उपाधि मिली।

उस लेख के प्रकाशित होते ही श्रीमती क्यूरी कीर्त्ति के शिखर पर चढ़ गईं। परन्तु यह कीर्त्ति उनके काम और घर की शान्ति में बहुत बाधक होती रही। इसलिए वे रिपोर्टरों और फ़ोटोग्राफ़रों को मिलने से इन्कार कर देतीं और यथाशक्ति प्रयत्न करतीं कि उनके नाम का ढिंढोरा न पीटा जा सके।

अन्त में सन् १६१० में श्रीमती क्यूरी रेडियम को शुद्ध धातु-रूप में पृथक् करने में सफल हो गईं। रेडियम की रश्मियों की तीव्रता और वेधन-शक्ति उसके अपने काल्पनिक अनुमान से भी कहीं अधिक निकली। जिस शीशे की नाली में रेडियम रखा हुआ था, उसके बाहर भी यदि कोई वस्तु पास लाई जाती, तो उस पर उसका प्रभाव हुए बिना न रहता। जीव-जन्तुओं के लोम, त्वचा और दृष्टि तक का नाश हो जाता और अन्त में वे मर जाते। रेडियम के इस श्वेत से चूर्ण को हाथ लगाने से कई एक अन्वेषकों के हाथों पर बड़े कष्टदायक व्रण हो गए। पिअरे क्यूरी ने कुछ देर के लिए अपनी बाँह को इसकी किरणों के सामने कर दिया तो वह इतनी जल गई कि उसे ठीक होते-होते महीनों लग गए। रेडियम की नलिकाएँ पकड़ते-पकड़ते उसके हाथों में जड़ता आने लगी। एक बार बेकरल महोदय रेडियम ब्रोमाइड की एक छोटी-सी पुड़िया अपनी वासकट की जेब में रख बैठे। कुछ घंटों के अन्दर ही कपड़ा जलकर उनकी छाती बुरी तरह झुलस गई। श्रीमती क्यूरी ने एक बार कहा था—'जिस कमरे में एक किलोग्राम भर रेडियम पड़ा हो, वह चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसमें प्रवेश करने से मनुष्य

तत्काल ही मर जायगा क्योंकि उसकी किरणों की तीव्रता से आँखें अंधी हो जाएँगी, कपड़े जल जाएँगे और शरीर का रोम रोम झुलस जाएगा।' रेडियम इतना भयानक होते हुए भी अपने अन्दर संजीविनी शक्ति रखता है। कई असाध्य रोगों की चिकित्सा में यह सफल हुआ है।

सन् १९०३ में क्यूरी-दंपती के उद्योग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा हुई और हर ओर से उन पर मान और प्रतिष्ठा की वर्षा होने लगी। रॉयल एकेडमी के आग्रह पर ये दोनों लंदन पहुँचे। वहाँ इनका बड़ा भारी सत्कार किया गया और रॉयल सोसाइटी की ओर से दोनों को साँझा डेवी मेडल (Davy Medal) प्रदान किया गया। उस वर्ष का पदार्थ-विद्या का नोबेल प्राइज़ भी इन दोनों और बेकरल महोदय के बीच आधा-आधा बाँट दिया गया। वह प्राइज़ ८००० पौंड का होता है और सम्मान की पराकाष्ठा का सूचक है। इससे उनकी आर्थिक चिन्ता भी दूर हो गई। अगले वर्ष फ्रेंच चेम्बर ऑफ़ डेपुटीज़् ने 'पिअरे क्यूरी' के निमित्त पदार्थ-विद्या की एक गद्दी स्थापित करने के लिये १८,७०० फ्राँक पृथक् निर्धारित करने का प्रस्ताव पास किया। परन्तु श्रीमती क्यूरी को बुरे दिन अभी देखने थे। सन् १९०६ में एक दिन विज्ञान के अध्यापकों की समिति ने पिअरे क्यूरी को भोजन का निमन्त्रण दिया। वहाँ वह अपनी मित्र-मंडली में प्रसन्न-चित्त बैठा था। उन्हीं दिनों उससे छात्रों को पढ़ाने का काम छुड़वा दिया गया था। और वह अपना सारा समय वैज्ञानिक अन्वेषण में लगाने के लिये सर्वथा स्वतन्त्र हो गया था। आशाओं से भरा हुआ

वह मन में भविष्य के लिये कई प्रकार की योजनाएँ जोड़ रहा था। अन्त में मित्रों से विदा लेकर चला पर न वह घर पहुँचा और न ही रसायन-शाला में। मार्ग में भीड़ थी। चौक को लाँघते हुए उसका पाँव फिसल गया और वह एक भारी छकड़े के नीचे दबकर वहीं मर गया। इस दुर्घटना को सुनकर श्रीमती क्यूरी के हृदय पर बड़ा भारी आघात पहुँचा और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। ऐसा प्रतीत होता था कि या तो वह पागल हो जायगी या मर जायगी। परन्तु घर में नन्हीं-नन्हीं बच्चियों की मधुर आवाज़ सुन-सुनकर श्रीमती क्यूरी को कुछ सांत्वना हो आई और वह जीवन का भार उठाने के समर्थ हो गई। समय सब दुःख भुला देता है। शनैः शनैः उसका भी दुःख कम होता गया और अन्त में उस कार्य को, जिसके लिये पति-पत्नी ने अपना जीवन अर्पण कर रखा था, जारी रखने के लिये वह रसायन-शाला में आकर फिर से परिश्रम करने लगी। अपने पति के पद पर वह आनरेरी प्रोफ़ेसर नियुक्त कर दी गई और उसका अपना शिष्य और सखा डेबर्न (Debierne) उसका सहकारी बना दिया गया। वह पहले से भी अधिक दत्तचित्त होकर अन्वेषण में लग गई, क्योंकि अब यह कार्य उसके लिये केवल विज्ञान की निष्काम सेवा ही न था, वरन् अपने स्वर्गीय स्वामी के उद्योग का अत्युत्तम स्मारक भी था। उसका जीवन एक सती-साध्वी स्त्री का आदर्श जीवन है।

श्रीमती क्यूरी लेखिका भी उच्चकोटि की थी। राष्ट्रीय उद्योग-समिति ने उसकी पहली वैज्ञानिक पुस्तक प्रकाशित की। सन् १९१०

में जब उसने रेडियम को शुद्धरूप में पृथक् करके उसका परमाणु-भार निश्चित किया तो उसने रश्मि-वेधन-शक्ति (Radio activity) पर भी १००० पृष्ठ की एक अद्वितीय पुस्तक लिखी। सन् १९११ में रसायन-विद्या का नोबेल प्राइज़ फिर उसे ही दिया गया। ऐसा मान संसार में आज तक किसी अन्य व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सका था, क्योंकि नोबेल प्राइज़ दो बार किसी भी व्यक्ति को कभी नहीं मिला।

यूरोप के घोर युद्ध आरंभ होने के थोड़े ही समय बाद पेरिस में रेडियम संस्था खोली गई और श्रीमती क्यूरी को उसकी अध्यक्षा बना दिया गया। इस संकट के समय फ्रेंच सरकार ने उसे रेडियम के विषय पर एकमात्र प्रामाणिक व्यक्ति समझकर अपने सैनिक चिकित्सालयों में रश्मि-वेधन-शास्त्र का सारा काम उसी के अधीन कर दिया।

पेरिस यूनिवर्सिटी की रेडियम संस्था में दो रसायन-शालाएँ हैं। एक का नाम क्यूरी रसायन-शाला है, जिसमें रसायन और पदार्थ-विद्या का अनुसंधान-कार्य होता है। दूसरी पास्च्योर रसायन-शाला है, जो केवल रश्मि-वेधन-शक्ति के चिकित्सासंबंधी प्रयोग ढूँढने के लिये ही व्यवस्थित है। इस दूसरी रसायन-शाला में सब से महान् कार्य तो नासूर फोड़े (Cancer) की चिकित्सा के विषय में हुआ है। पंद्रह वर्ष के लगातार परिश्रम के बाद यह सिद्ध हो गया है कि इस रोग में शल्य-चिकित्सा की अपेक्षा रेडियम-चिकित्सा कहीं अधिक गुणकारी है। दिनों-दिन इस चिकित्सा में उन्नति हो रही है।

श्रीमती क्यूरी ने महायुद्ध में जो अनुपम काम किया, उसके विषय में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। युद्ध के आरम्भ में रश्मि-वेधन-चिकित्सा विभाग के पास केवल थोड़ी-सी कारें (Cars) थीं, जिन पर रखकर रश्मि-वेधन-उपकरण रणभूमि में पहुँचाए जाते थे। और कतिपय ही चिकित्सालय ऐसे थे, जिनमें वह उपकरण स्थिर रूप से विद्यमान थे। आहत सैनिकों पर रश्मि-वेधन-चिकित्सा की उपयोगिता का तब तक इतना ज्ञान नहीं था, जितना आज कल है। फिर भी श्रीमती क्यूरी को इसमें पूरी श्रद्धा थी और उसने इस कमी को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया। उसने कई स्थानों से रश्मि-वेधन-उपकरण इकट्ठे कर लिये और जनता से कारें माँग-माँगकर इस चिकित्सा के कोई बीस जंगम केन्द्र स्थापित कर दिए। बहुधा, उसे स्वयं रणक्षेत्र में जाकर वहाँ का समाचार जानना पड़ता और जहाँ भी आवश्यकता होती, वहीं वह चिकित्सा-उपकरण ले जाती और चलाने वालों को चलाने का ढंग स्वयं सिखाती। सिद्ध-हस्त यन्त्र-संचालक पैदा करने के लिये उसने एक शिक्षणालय खोल दिया, जिसमें सीखे हुए विद्यार्थियों ने चिकित्सालयों में और डाक्टरों को सहायता पहुँचाने में बहुत संतोषजनक काम किया।

युद्ध के पश्चात् पेरिस की रेडियम संस्था में बहुत-सी नवीनता आ गई। परिचित और अपरिचित मित्र श्रीमती क्यूरी को उसके काम में आने वाली धातुओं के नमूने भेजते रहते। उसने लिखा है—'अमेरिका में एक बार जब मैं वाशिंगटन में एक रसायन-शाला की

स्थापना करने में सहायता दे रही थी, मुझे एक अद्भुत खनिज पदार्थ का नमूना भेंट किया गया। मैं बहुत थकी हुई थी किंतु अमेरिकन मित्रों ने मुझे बताया कि थकी हुई होने पर भी उस खनिज को देखकर मेरे मुख पर आशा की मुद्रा झलकने लगी और उत्सव के अन्त तक मैं उसी की ओर देखती रही।'

सुना जाता है कि वैधव्य के थोड़े ही काल बाद उसे पेरिस में व्याख्यान देने का अवसर मिला। उस व्याख्यान के अवसर पर फ्राँस का प्रेज़ीडेंट, पुर्तगाल का राजा, लार्ड केल्विन, सर डब्ल्यू रेम्ज़े, और सर ओलिवर लौज भी उपस्थित थे। पिछले तीन सज्जन तो विशेषतः इसी व्याख्यान को सुनने के लिए इंग्लैंड से चलकर आए थे। जब श्रीमती क्यूरी व्याख्यान देने के लिए आईं तो सभी प्रतिष्ठित लोगों ने उठकर उनका अभिनन्दन किया। लोगों ने देखा; दुबला पतला शरीर है। दिखावे और अभिमान का लेशमात्र भी नहीं। मुख पर परिश्रम और शोक की रेखाएँ खिंच गई हैं। जीवन-ज्योति बुझ रही है। रंग पीला और बाल श्वेत हो गए हैं। कपड़े इतने सादे कि फ़ैशन छुआ तक नहीं।

इसी स्त्री ने, जिसे देखकर सहस्रों में शायद कोई ही पहचानता हो, विज्ञान के कई मूल-सिद्धान्तों का परिवर्तन कर दिया है और अनुसंधान का एक नया क्षेत्र खड़ा कर दिया है, रेडियम का आविष्कार करके डाक्टरों के हाथ में एक अद्भुत शस्त्र दे दिया है, जिससे वे अपनी कठिन से कठिन समस्याओं का हल करने में

सफल हो जाएँगे। विज्ञान-क्षेत्र में यह आविष्कार दैवी चमत्कार से कम नहीं।

रेडियम एक बड़ी दुर्लभ धातु है और बहुत थोड़ी मात्रा में मिलती है। यह इतना महँगा है कि इसके एक अणु का मूल्य १२ पौंड होता है।

नागराज-कन्या सोमा

क्या आपने कभी नागराज-कन्या सोमा का नाम सुना है ? आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि आर्य-इतिहास में इस वीर रमणी का स्थान अमर है । हम आज उसके नाम को भी भूल चुके हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है । दासता और अवनति के गर्त में पड़ी हुई एक रुग्ण, वृद्ध और दरिद्र जाति यदि अपने पूर्वजों के उज्ज्वल चरित्रों का भी विस्मरण कर दे तो उसके पुनर्जीवन की क्या आशा हो सकती है ? आओ, आज आपको काम्बोज के राजवंश की जन्मदात्री नागराज-कन्या का परिचय दें । उसका ज्वलन्त चरित्र एक वीर महाकाव्य है ।

क्या प्राचीन आर्य गृहस्थायी थे ?

हम सब ने अपने स्कूलों में भारतीय इतिहास की पुस्तकें पढ़ी हैं । इस इतिहास को लिखने वाले हमारे शासक हैं । हमें

बताया गया है कि हमारे पूर्वज प्राचीन आर्य गृह-स्थायी (Stay-at-home) थे। धार्मिक बन्धन उन्हें बाहर निकलने से रोकते थे। भौगोलिक परिस्थिति भी विदेश-यात्रा के अनुकूल न थी। इधर शास्त्रों की आज्ञा, उधर प्रकृति देवी की प्रतिकूलता। एक ओर आकाश से बातें करने वाली, कभी न समाप्त होने वाली, बर्फ़ से ढकी हुई अनुल्लंघनीय पर्वतमालाएँ, और हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए दुर्गम वन, और दूसरी ओर अनन्त अगाध श्यामवर्ण जलराशि और जहाज़रानी के सर्वथा अनुपयुक्त समुद्र-तट; घर में नव-निधियों और अष्ट-सिद्धियों की अठखेलियाँ, सुखोपभोग के साधनों की प्रचुरता और प्रकृति का असीम अनुग्रह! फिर ऐसी दशा में विदेश जाकर कौन अपने धर्म और प्राणों को संकट में डालता? रत्न-प्रसू, निखिल-रस-निर्भरा, शस्यश्यामला भारत-वसुन्धरा में जन्म लेकर कौन-सा प्रलोभन रह जाता है, जिसकी प्रेरणा से कोई विदेश जाने को उत्सुक हो! इन्हीं कारणों से आर्य लोग गृह-स्थायी रहे। आलस्य और प्रमाद ने उनकी कर्मण्यता को नष्ट कर दिया और कुएँ के मेंडक की तरह वे प्रगतिशील संसार से विमुख होकर अपनी अधोगति में ही सन्तुष्ट रहे।

नवभारत के इतिहास पर नया प्रकाश

ऐसे निराशाजनक भाव ही इतिहासकारों ने बचपन से हमारे सामने रखे हैं। इन्हीं विचारों से अभिभूत होकर हम अपने आदर्शों को ढूँढने के लिए यूरोप की ओर खिंचे जा रहे हैं। परन्तु उद्बोधन के इस युग में हमारे प्राचीन इतिहास पर एक नया प्रकाश पड़ा है।

अनेक विद्वानों की खोज से यह सिद्ध हो गया है कि ऊपर लिखे सब विचार भ्रान्ति-मूलक थे, यह सब अँधेरे की भावनाएँ थीं। आज हमारा ऐतिहासिक क्षितिज बहुत विस्तृत हो गया है। अतीत के रंगमंच पर से परदा कुछ ऊपर उठ गया है। हमें दूर पर एक सुन्दर, आकर्षक दृश्य दिखाई देने लगा है। हिन्द-महासागर की कृष्ण जलराशि से परे सुदूर पूर्व में हमें एक नवभारत की सृष्टि का, एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य के अद्भुत विकास का ज्ञान प्राप्त हुआ है। प्राचीन आर्यों का औपनिवेशिक प्रसार हमारे ऐतिहासिक अन्तरिक्ष पर निराली छटा दिखलाने लगा है।

विशाल भारत का मुकुट-मणि

विश्रुति के उस दूरवर्ती युग में, जिसे हम भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल कहते हैं, भारतवर्ष एशिया की संस्कृति का पथ-प्रदर्शक था। भारतीय सभ्यता जीवन से उमड़ रही थी। भारतीय विश्व-विद्यालयों के आचार्य संसार के गुरु माने जाते थे। हमारी कर्मण्यता विचार-स्वप्न की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। इस समुज्ज्वल युग में हमारी संस्कृति ने एक ज़बरदस्त बाढ़ की भाँति आस-पास के अनेक देशों में प्रवेश किया और उनके गहन अरण्य-प्रदेशों को आक्रान्त और आप्लावित करके वहाँ की असभ्य जंगली जातियों को आर्य-सभ्यता में दीक्षित किया। इस विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य का मुकुट-मणि काम्बोज का शक्तिशाली आर्य उपनिवेश था। इस महान् उपनिवेश की संस्थापना का श्रेय नागराज-कन्या सोमा को प्राप्त हुआ।

चाम और खमेर

जिस तरह भारत में गंगा की उर्वरा वादी पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सब आक्रमणकारी उत्सुक रहे हैं, उसी तरह इन्दो-चीन में मेकांग के डेल्टा की आनन्द-निष्यन्दिनी भूमि—जहाँ कृषि, मत्स्य-जीविता और शिकार जीवन के अपरिमेय साधनों को उपस्थित करते हैं—अनेक पुरानी जातियों के संघर्ष का क्रीड़ास्थल रही है। मन्द, विस्तीर्ण, धान के खेतों की चिकनी मिट्टी को चाट कर निरन्तर पङ्किल रहने वाला महानद मेकांग काम्बोज के एक बड़े भारी मैदान को उपजाऊ बनाता है। मेकांग ही काम्बोज की आर्थिक समृद्धि का स्रोत है। यह महानद ही इस देश का एकमात्र जलमार्ग है। इसकी उपत्यका में पहले-पहल चाम जाति का प्रभुत्व था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व वीरमान प्रदेश से खमेर जाति ने इस देश पर आक्रमण किया। उन्होंने चामों को उत्तर की ओर धकेलकर यहाँ एक नये राज्य का संगठन किया। खमेर-जाति का राजा नागवंशीय था।

कौण्डिन्य का आगमन

ई० सन् की पहली सदी के आरम्भ में आर्यावर्त के उत्तर-पूर्वीय प्रदेश में एक शक्तिशाली ब्राह्मण-वंश का राज्य था। घरेलू झगड़ों के कारण ब्राह्मण राजा ने अपने पुत्र राजकुमार कौण्डिन्य को देश से निकाल दिया। प्रवासित राजकुमार कुछ साथियों के साथ स्वदेश को त्यागकर चल पड़ा। उसे यह समझ में न आता था कि वह अब

किस ओर प्रस्थान करे। अनिश्चय और नैराश्य के कारण किंकर्तव्य-विमूढ यह राजकुमार कुछ समय तक इधर-उधर भटकता रहा। एक दिन प्रभात के समय वह एक वृक्ष के नीचे सोया हुआ था कि उसने एक अद्भुत स्वप्न देखा। भगवान् पिनाकी उसके सामने खड़े हैं और इन शब्दों से उसको प्रोत्साहन दे रहे हैं—'तेजस्वी राजकुमार! उठो, निराशा को छोड़कर कर्मण्यता का आश्रय लो। देव-मन्दिर में मेरा धनुष और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा का भाला पड़ा है। यह शस्त्र तुम्हें सदा विजयी बनावेंगे। उठो, समुद्र-यात्रा करो और पूर्व में जाकर नये भारत की सृष्टि कर यशस्वी बनो। वहाँ तुम ऐसे विशाल साम्राज्य के स्वामी बनोगे, जिसके सामने तुम्हारे पिता का राज्य तुच्छ प्रतीत होगा।'

यह कहकर महेश अन्तर्धान हो गए और चकित राजकुमार ने आँखें खोलीं। वह हर्ष और उल्लास से कूद पड़ा और निकट के देव-मन्दिर की ओर दौड़ा। वहाँ उसे एक वृक्ष के नीचे दिव्य धनुष और एक भाला प्राप्त हुए। अब उसे दैव-वाणी की सत्यता पर पूर्ण विश्वास हो गया। अपने मित्रों के साथ वह एक जहाज़ में बैठकर भारत से विदा हुआ। बहुत लम्बी और भयावह समुद्र-यात्रा के बाद वह खमेर-राज्य में पहुँचा। उन दिनों लम्बी समुद्र-यात्रा भारत-वासियों के लिए कोई नई बात न थी। भारतीय व्यापारी अपने जहाज़ों में पश्चिम में मिश्रदेश तक और पूर्व में स्वर्ण-भूमि, जावा, सुमातरा आदि द्वीप-समूह तक आते जाते रहते थे। परन्तु श्याम की खाड़ी के पूर्वीय प्रदेश तक भारतीय जहाज़ अब पहली ही बार आया था।

रानी लिएऊ-ये

हम ऊपर कह आए हैं कि मेकांग की घाटी पर उस समय खमेर-जाति का प्रभुत्व था और उसके शासक नागवंश के थे। राजकुमार कौण्डिन्य का जहाज़ इसी देश के समुद्र-तट पर आ लगा। उस सलिल-निर्भरा भूमि के रमणीय दृश्य और प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर राजकुमार ने वहाँ लंगर डाल दिया। उस समय खमेर देश पर एक युवती रानी राज करती थी, जिसका नाम चीनी इतिहासकारों ने लिएऊ-ये लिखा है। नागराज-कन्या और उसकी प्रजा नंगे रहते थे। वह शस्त्रविद्या में बड़े प्रवीण थे, परन्तु थे बिलकुल असभ्य।

नागराज-कन्या से युद्ध

जब नागराज-कन्या को राजकुमार कौण्डिन्य के आने का समाचार मिला तो उसने इस आगन्तुक का प्रतिरोध करना चाहा। उसने अपनी सेना इकट्ठी की और किश्तियों में सवार होकर युद्ध के लिए आ डटी। बहुत समय तक युद्ध होता रहा। कौण्डिन्य के साथी संख्या में बहुत थोड़े थे, परन्तु उनका जहाज़ बड़ा और सुरक्षित था। कौण्डिन्य का धनुष भी बहुत दूर तक मार कर सकता था। उसका एक तीर रानी के जहाज़ में जा लगा, जिससे उसकी सेना में घबराहट पैदा हो गई। परन्तु नागराज-कन्या एक वीर महिला थी। वह बराबर युद्ध करती रही। इसी अवसर पर समुद्र में एक भारी तूफ़ान आया और तब दोनों विरोधी दल परस्पर

संघर्ष छोड़कर प्रकृति से युद्ध करने लगे। तीन घंटे के तूफ़ान के बाद उस युद्ध-स्थल का दृश्य बिलकुल अजीब बन गया था। न वहाँ जहाज़ थे, न जहाज़ों के प्रभु।

प्रथम-मिलन

तूफ़ान के कुछ शान्त होने पर राजकुमार समुद्र के रेतीले तट पर अर्ध-चेतन अवस्था में पड़ा था कि उसे कुछ स्त्रियों के रोने-चिल्लाने का शब्द सुनाई पड़ा। उसने देखा कि निकट ही एक किश्ती डूब रही है। वह समुद्र में कूद पड़ा और डूबती हुई एक बेहोश स्त्री को पकड़कर बाहर ले आया।

इस समय तक समुद्र शान्त हो चुका था। आकाश में चन्द्र-देव मुसकराते हुए तूफ़ान से दुःखित प्राणिवर्ग पर अमृत-वर्षा कर रहे थे। राजकुमार ने बेसुध अबला को समुद्र-तट की रेत पर लिटा दिया। अहो! कैसा अनुपम सुन्दर रूप था! जिस नारी को उसने डूबने से बचाया था, वह सचमुच स्वर्गीय लावण्य की मूर्ति थी। उसके शरीर पर वस्त्र नहीं थे और चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना में उसका कान्तिमान् मुख एक अनुपम ज्योति से चमक रहा था। राजकुमार ने अपने हृदय में एक नये और मृदुल भाव की सृष्टि का अनुभव किया। तूफ़ान में उसके सब वस्त्र भी खो गए थे। केवल एक चादर उसने ओढ़ी हुई थी। उसने झट अपनी आधी चादर काटकर उस रमणी का शरीर ढक दिया। वह उसे होश में लाने का प्रयत्न करने लगा। थोड़ी देर के बाद युवती ने

आँखें खोलीं और कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उसने अपने रक्षक की ओर देखा। यही इस दिव्य-दम्पति का प्रथम-मिलन था। दोनों एकटक एक दूसरे की ओर सतृष्णा नेत्रों से देखते रहे। उनके अन्दर प्रेम का अंकुर सहसा पैदा हुआ। एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका मूक प्रेम एक नये प्रकार का प्रेम था। कुछ देर के बाद युवती ने अपना हाथ राजकुमार के हाथ पर रख दिया, यही उनका पाणि-ग्रहण था। भगवान् समुद्रदेव और विकसित शीतरश्मि ही उनके मूक विवाह के साक्षी थे।

यह युवती कौन थी ? वही नागराज-कन्या लिएऊ-ये—खमेर-जाति की रानी। घोर युद्ध का अजीब निराला परिणाम ! हम कह नहीं सकते कि इस युद्ध में किस की जीत हुई और किस की हार। प्रातः होते ही दोनों दलों के बचे हुए लोगों ने देखा कि रानी ने राजकुमार को निःशस्त्र ही कैद कर लिया है—ऐसे प्रेम-पाश में, जो लोह-पाश से कहीं अधिक सुदृढ़ था।

भवपुर की स्थापना

जब राजकुमार कौण्डिन्य ने नागराज-कन्या से धर्मचर्य्या के लिए पाणि-ग्रहण किया तो उसने रानी का नाम सोमा रखा। कौण्डिन्य ने रानी की प्रजा को वस्त्र पहनना सिखलाया। खमेर जाति वीरत्व और नैसर्गिक गुणों में किसी से कम न थी। भारतीय सभ्यता के सम्पर्क से उसमें एक नये जीवन का संचार हुआ। कौण्डिन्य और नागराज-कन्या ने सारे काम्बोज देश को जीतकर

एक विस्तृत राज्य बना लिया। परन्तु कौण्डिन्य अपने इष्टदेव को भूला न था। उसने एक नई राजधानी बसाई, जिसका नाम भवपुर रखा गया। भवपुर के भव्य नगर के मध्य में उसने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के भाले को स्थापित किया।

काम्बोज-साम्राज्य

इस महत्त्वाकांक्षी दम्पती के प्रयत्न से एक ऐसे सुदृढ़ राज्य की नींव पड़ी कि १२०० वर्ष तक यह साम्राज्य शक्तिशाली रहा। उनके वंशजों ने राजनीतिक क्षेत्र में—दक्षिण में सुमातरा और जावा तक, पश्चिम में श्याम और वर्मा तक, उत्तर में अनाम और चम्पा तक अपनी शक्ति का प्रसार किया। चीन के सम्राटों के दूत उनकी राजसभा को सुशोभित करते थे। कला के क्षेत्र में तो उन्होंने कमाल ही कर दिया। काम्बोज में ऐसे भव्य निर्माणों की सृष्टि हुई कि खमेर-कला अपनी जन्मदात्री भारतीय कला को बहुत पीछे छोड़ गई। आर्य-संस्कृति इस नवीन उर्वरा भूमि में ऐसी फली फूली कि उसकी कला के सहस्रों नमूने आज भी हमें मुग्ध करते हैं।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् डाक्टर फ़िनो ने कहा है—अब तक भारत अपने समुद्र-तट तक ही अपनी सीमा समझे बैठा था। अब स्वर्णभूमि और उससे परे सुदूर पूर्व में जो भारतीय कला के अनेक सुन्दर अवशेष मिले हैं, उनके कारण भारत ने सतृष्ण नेत्रों से अपने पुरातन उपनिवेशों की ओर देखना शुरू कर दिया है।

और वह समय अब दूर नहीं है, जब नवभारत के शिक्षित युवक काम्बोज के अंगकोर मन्दिर की यात्रा कर अपनी सभ्यता के एक उज्ज्वलतम पुष्प की पूजा किया करेंगे।'

समय आएगा, जब हमारा कोई जातीय महाकवि इस विशाल भारत के वीर काव्य की रचना करेगा। नागराज-कन्या सोमा और उसके तेजस्वी पति कौण्डिन्य की पद-वन्दना से ही उस महाकाव्य का श्रीगणेश होगा।

द्रौपदी

भारत के नारी-रत्नों में द्रौपदी का भी एक उच्च स्थान है। यह पांचाल देश के राजा द्रुपद की पुत्री थी। वह जैसे रूप में अद्वितीय थी, वैसे ही गुणों में भी अनुकरणीय थी। जब वह विवाहने योग्य हुई तो उसके पिता ने स्वयंवर रचा और यह प्रण किया कि जो पुरुष ऊपर लटकती हुई मछली को नीचे पानी में पड़ते हुए उसके प्रतिबिम्ब की ओर देखता हुआ बाण से वेधेगा, उसी के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा।

स्वयंवर

इस स्वयवर में अनेकों राजा और राजकुमार एकत्रित हुए। उन्हीं में से पाण्डु का पुत्र अर्जुन भी था। जब कोई भी उस मछली को न वेध सका, तब अर्जुन ने उसे वेध दिया और द्रौपदी को अपने घर ले आया। कहा जाता है कि जिस समय अर्जुन द्रौपदी को

लेकर आया, उसकी माता कुन्ती किसी काम में लगी हुई थी। इससे उसने देखा तो कुछ नहीं और अर्जुन के यह कहते ही कि 'माँ! मैं कुछ लाया हूँ' एकदम कह दिया कि 'अच्छा, पाँचों भाई बाँट लो!'

जब कुन्ती को पता चला कि अर्जुन की लाई हुई वस्तु तो एक जीवधारी पदार्थ है और उसे पाँचों भाई नहीं ले सकते, तब उसको बहुत पश्चात्ताप हुआ और सब मिलकर विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए। अन्त में यही निश्चय हुआ कि द्रौपदी से पाँचों भाइयों को मिलकर विवाह करना चाहिए, जिससे माता का वचन असत्य न हो।

यह भी कथा है कि द्रौपदी ने कैलास में जाकर महादेव का भारी तप किया था। तब प्रसन्न हो शंकर ने कहा था—'पुत्री! वर माँग।' उस समय द्रौपदी के मुख से एकदम पाँच बार 'पति' 'पति' शब्द निकला था, जिस पर महादेव ने कहा था—'अच्छा! तुझे पाँच ही पति मिलेंगे।' बस, उसी वरदान-स्वरूप द्रौपदी के पाँच पति हुए और उसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल तथा सहदेव इन पाँचों भाइयों की स्त्री बनना पड़ा। ये भाई पाण्डव कहलाते थे।

द्रौपदी का अपमान

कौरव और पाण्डव चचेरे भाई थे। राज्य दोनों का आधा-आधा होना चाहिए था। पाण्डव धर्म-प्रिय थे, किन्तु कौरवों की नीयत ठीक नहीं थी। कौरवों के पिता अन्धे धृतराष्ट्र ने राज्य का

कुछ भाग पाण्डवों को दे दिया था। इस राज्य में वे इन्द्रप्रस्थ नाम का नगर बसाकर सन्तोष से शासन करते थे। परन्तु कौरव उनसे जलते थे और हर समय उनसे शत्रुता का भाव रखते थे। उन्होंने राज्य छीन लेने की इच्छा से पाण्डवों को जुआ खेलने पर विवश किया। इस जूए में कौरवों के छल-कपट से पाण्डव अपना सारा राजपाट हार गये। तदनन्तर युधिष्ठिर ने पाँचों भाइयों को जुए में हार दिया। अब केवल द्रौपदी शेष रह गई थी। अंत में उसे भी हार दिया।

जब पाण्डव हार गये तो दुर्योधन ने अपने सारथी द्वारा द्रौपदी को राज-सभा में बुला भेजा, पर वह न आई। तब दुर्योधन ने दु:शासन को उसे बलपूर्वक लाने को भेजा। दु:शासन ने राजसभा का सब हाल सुनाकर द्रौपदी से वहाँ चलने को कहा। उसके मना करने पर भी वह द्रौपदी को घसीटकर राजसभा में ले आया। द्रौपदी को राजसभा में विद्यमान देखकर सब कौरव हँसने लगे, किन्तु जो ऋषि-मुनि राजसभा में बैठे थे, वे कहने लगे कि यह बड़ा अन्याय हुआ है। मदान्ध दुर्योधन की आज्ञा से दुष्ट दु:शासन ने द्रौपदी को अपमानित करना चाहा और वह उसकी धोती पकड़कर खींचने लगा। इससे राजसभा में हाहाकार मच गया। सब लोग चित्र-लिखित से रह गये, किंतु इतना साहस किसी को भी नहीं हुआ कि इस अपमानजनक कार्य को रोके। सभा में इस तरह निर्लज्जता का व्यवहार होता देखकर द्रौपदी बहुत ही घबराई। वह चिल्लाई और रोने लगी। किन्तु किसी ने उस ओर ध्यान न दिया। पहले तो द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों की ओर देखकर उनसे सहायता की प्रार्थना की। उसके बाद उसने

धृतराष्ट्र आदि की ओर दीनता से देखा। उधर प्रतिज्ञा में बँधे हुए पाँचों पाण्डव चुपचाप बैठकर यह अत्याचार देखते रहे। तब द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की। प्रसिद्ध है कि कृष्ण ने कोई ऐसी माया रची, जिससे सभा में द्रौपदी का अपमान न हो सका।

वृद्ध राजा धृतराष्ट्र को अपने पुत्र दुर्योधन की यह कार्रवाई पसन्द नहीं थी। वह अपने मन में बड़ा दुःखी था, परन्तु पुत्रों के आगे वश न चलने से वह चुप बैठा था। जब यह सब हो चुका तो उसने अपने पुत्रों को फटकारा और द्रौपदी से कहा—'बेटी, मैं तेरा सत्य देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। जो मुझ से माँगना हो सो माँग! मैं वह तुझे दूँगा।'

द्रौपदी ने कहा—'और तो मैं कुछ नहीं चाहती; क्योंकि अधिक लोभ से धर्म की हानि होती है, परन्तु एक बात मैं माँगती हूँ। वह यह है कि मेरे इन पाँचों पतियों को दास न बनाया जाय।'

इससे पाण्डव दासत्व से तो बच गये, परन्तु दुर्योधन ने उनको बारह वर्ष तक वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास का दण्ड देकर नगर से निकल जाने की आज्ञा दी। द्रौपदी ने भी एक आदर्श पत्नी के समान वल्कल वस्त्र पहन लिये और वन में जाते हुए पाण्डवों का साथ दिया।

द्रौपदी कभी इस घोर अपमान को न भूल सकी। उसके संक्षुब्ध हृदय के भावों को महाकवि भारवि ने बहुत प्रभावशालिनी भाषा में प्रकट किया है। किरातार्जुनीय में पाण्डवों को युद्ध की प्रेरणा करती हुई द्रौपदी अर्जुन को कहती है—

दुःशासनाकर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित् स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥

क्या तुम वही धनञ्जय हो, जिसकी सारी शक्ति मिट्टी में मिला दी गई थी, जब यह अनाथ केश दुःशासन के खींचने से रजोविकीर्ण हो गए थे ।

वनवास-काल

द्रौपदी वन में कंकरों वाली भूमि पर वृक्ष की छाया में सोती और कन्द मूल फल खाकर उदर-पूर्त्ति करती थी। वह सदा पाण्डवों की सेवा करती और कभी घर को तथा वैभव को याद नहीं करती थी। जब पाण्डवों में से कोई उससे पूछता भी तो वह यही उत्तर देती कि मुझ को आपके चरणों के दर्शन नित्य हो जाते हैं, इससे मेरे लिये जंगल ही में मंगल है । इस तरह द्रौपदी राज-पाट के सुख को भूलकर सन्तुष्ट हो वन में रहने लगी ।

एक दिन पाँचों भाई तो शिकार के लिए चले गये और द्रौपदी को धौम्य मुनि की रक्षा में आश्रम में ही छोड़ गये । पीछे से सिन्धु देश का राजा जयद्रथ उधर आ निकला। द्रौपदी का रूप देखकर वह मोहित हो गया और उसको पकड़कर ले जाने लगा, किन्तु द्रौपदी ने वीर क्षत्राणी का-सा पराक्रम दिखाकर अपने को उसके बन्धन से छुड़ा लिया ।

जब पाण्डवों के बारह वर्ष पूरे हो गये और अज्ञातवास का तेरहवाँ वर्ष शुरू हुआ, तो पाँचों भाई नाम और रूप बदलकर राजा

विराट के यहाँ नौकर हो गए। द्रौपदी भी नाम बदलकर रानी के पास दासी का काम करने लगी। रानी का भाई कीचक बड़ा नीच था। द्रौपदी का रूप देखकर उसका मन बिगड़ा और उसने द्रौपदी को फुसलाने का प्रयत्न किया। इस पर द्रौपदी ने उसको फटकार दिया। इस फटकार से कीचक कुछ ठण्डा हो गया, परन्तु उसके हृदय में अग्नि जलती रही और वह अवसर देखता रहा। एक दिन रानी ने द्रौपदी को कुछ वस्तु देकर कीचक के पास भेजा। पहले तो उसने वहाँ जाने में आनाकानी की। अन्त में विवश हो उसे जाना ही पड़ा। कीचक तो यह चाहता ही था। उसने द्रौपदी को अपने महल में रोक रखने का प्रयत्न किया। तब तो वह बहुत घबराई और उससे प्रार्थना करने लगी। परन्तु कुछ फल होते न देख उसने युक्ति से काम लेने का निश्चय किया और दूसरे दिन मिलने की प्रतिज्ञा कर वह किसी प्रकार वापस आ गई। वापस आकर वह सीधा युधिष्ठिर के पास पहुँची। इस समय पांडवों के अज्ञातवास का वर्ष पूरा होने में केवल १२ दिन शेष थे। यदि इस समय उनको कोई पहचान लेता तो बारह वर्ष का वनवास उन्हें फिर से भोगना पड़ता। इससे युधिष्ठिर ने यह कहकर टाल दिया कि बारह दिन तक फिर भी जैसे बने, वैसे पूरे हो जाने दो। तब तक कीचक से बचे रहो। उसके बाद हम उससे निबट लेंगे।

यहाँ से सूखा उत्तर पाने पर वह अर्जुन के पास गई, फिर नकुल और सहदेव के पास गई, परन्तु सब से वैसा ही उत्तर मिला। तब तो उसको बड़ा दुःख हुआ और वह रोती-रोती भीमसेन

के पास जाकर बोली कि आपके चारों भाइयों के पास मैं हो आई और अपना दुखड़ा रो आई, पर किसी ने भी उस ओर ध्यान नहीं दिया । आप और अर्जुन-जैसे पराक्रमी वीरों के रहते हुए मेरा अपमान हो, यह क्या उचित है ?

भीमसेन महापराक्रमी था किंतु विना सोचे-विचारे काम कर डालने वाला भी था । द्रौपदी के यह वचन सुनते ही उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं और वह बोला—'मैं भी तो देखूँ कि कीचक कौन है ? अपने वस्त्र मुझे दे जाओ; फिर तुम कीचक को मरा ही देखना ।'

भीमसेन द्रौपदी के वस्त्र पहनकर कीचक के पास गया और वहाँ उसने कीचक का वध कर दिया । इस तरह इस आपत्ति से द्रौपदी को छुटकारा मिला ।

युद्ध

वनवास का समय पूरा हो जाने पर भी जब कौरवों ने पाण्डवों को आधा राज्य नहीं दिया तो पाण्डवों ने युद्ध की तैयारी की । यह युद्ध 'महाभारत के युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है । दोनों ओर से युद्ध की ज़ोर-शोर से तैयारी हुई। इस युद्ध में श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर थे । युद्ध से पहले उन्होंने एक बार दोनों पक्षों में आपस में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु कोई फल न निकला । अन्त में कुरुक्षेत्र की रणभूमि में एक महाभयंकर युद्ध हुआ, जो अठारह दिनों तक जारी रहा । इस महायुद्ध में अठारह

अक्षौहिणी सेना मारी गई और दोनों ओर के बड़े-बड़े वीर योद्धा काम आए। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्योधन आदि कौरवों की ओर के महारथी मारे गये और पाण्डव विजयी हुए। द्रौपदी को अपमानित करने वाले दुष्ट दुःशासन को भीमसेन ने बड़ी क्रूरता से मारा। पाण्डवों की भी संपूर्ण सेना मारी गई।

क्षमा-शीलता

युद्ध के अन्त में, रात्रि के समय पाण्डव और कौरवों के गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों का सिर काट गया। प्रातःकाल होने पर जब यह दुःखद समाचार ज्ञात हुआ तो द्रौपदी विलाप करने लगी। इस पर अर्जुन बोला—'मैं अभी अश्वत्थामा को मारकर उसका सिर काट लाता हूँ।' और धनुष बाण लेकर एक भारी युद्ध के पश्चात् अर्जुन अश्वत्थामा को जीवित पकड़ लाया। गुरु-पुत्र अश्वत्थामा को देखकर द्रौपदी ने रोते-रोते अर्जुन से प्रार्थना की कि—'प्राणनाथ! यह आपके गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र है और द्रोणाचार्य से ही धनुर्विद्या सीखकर आप जगत्-प्रसिद्ध हुए हैं। इससे आपके लिए गुरु-पुत्र का सिर काटना अच्छा नहीं है। मैं तो अपने पुत्रों के दुःख से दुःखी हूँ ही, परन्तु इसको मारने से इसकी माता भी मेरी भाँति दुःखी हो जायगी। इससे आप इसे क्षमा कर दीजिए और छोड़ दीजिए।'

द्रौपदी की ये बातें सुनकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे और अर्जुन ने अश्वत्थामा को छोड़ दिया। वह लज्जा के मारे

नीचा सिर किये वहाँ से चल दिया।

अन्त में पाण्डवों को राज्य मिला और बहुत समय तक द्रौपदी रानी बनकर सुख से रही। इस तरह पर अनेक बार उस पर आपत्ति और कष्ट आये, परन्तु उसने बहुत ही धैर्य और शान्ति के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया। भयंकर विपदाएँ आने पर भी वह विचलित न होती थी। वह बड़ी स्थिर-बुद्धि, क्षमाशील, और पतिव्रता स्त्री थी। वनवास में उसने समय-समय पर पाण्डवों को क्षत्रिय-धर्म-सम्बन्धी शिक्षा और सलाह देकर अपनी श्रेष्ठता का परिचय दिया। बहुत समय तक राज्य कर लेने के उपरान्त पाण्डवों ने अपने पोते परीक्षित को राजगद्दी दे दी और वे स्वयं हिमालय की ओर चल दिये। उस समय भी द्रौपदी उनके ही साथ रही और उनके ही साथ परमधाम को प्राप्त हुई।

यशोधरा

भगवान् गौतम बुद्ध के जीवन के साथ-साथ उनकी पत्नी यशोधरा का जीवन भी बहुत अधिक महत्त्व रखता है। भगवान् बुद्ध के वैराग्य धारण के पश्चात् उसको जो पति-वियोग की साधना करनी पड़ी, वह प्रत्येक सहृदय संसारी व्यक्ति को सहानुभूति और करुणा के भावों से द्रवित किए बिना नहीं रह सकती। उसकी अग्नि-परीक्षा का अन्त न था। एक ओर नारी का कोमल हृदय, दूसरी ओर वैराग्य का कठोर निश्चय। एक ओर अभागिनी बाला के आँसू, दूसरी ओर मोह-ममता का परित्याग। एक ओर बुद्ध की वैराग्य-साधना, दूसरी ओर यशोधरा के जीवन की कठोर तपस्या। यदि बुद्ध में अपनी पत्नी के त्याग का महत्त्व है, तो यशोधरा में पति-त्याग का महत्त्व उससे भी अधिक है। गौतम बुद्ध के सामने प्रकाश था तो यशोधरा के चारों ओर अन्धकार था और इसी लिये जहाँ बुद्ध का जीवन सुखान्त था, वहाँ यशोधरा का दुःखान्त।

बुद्ध के जीवन में जहाँ हम शान्ति देखते हैं, गम्भीरता और स्थिरता पाते हैं, वहाँ यशोधरा के जीवन में हम अशान्ति देखते हैं और विकलता तथा निराशा पाते हैं। उसे इतना भी मालूम नहीं हो पाया कि किस दुर्भाग्य अथवा अपराध-स्वरूप उसके प्राण-प्रिय पति उसे छोड़कर चल दिये। बुद्ध के ज्ञान से अधिक यशोधरा के कोमल हृदय का अज्ञान हम मनुष्यों के हृदयों को इसलिए प्रभावित करता है कि बुद्ध ने तो व्यक्तिगत दृष्टि से अनवरत साधना द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया था, परन्तु बेचारी यशोधरा व्यक्तिगत दृष्टि से आजीवन विरह-मग्न रही और सहानुभूति का पात्र बनकर रही।

यशोधरा राजा दण्डपाणि की पुत्री थी। उसका लालन-पालन बड़े प्रेम से किया गया था। जब वह सयानी हुई, तो कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन ने अपने पुत्र सिद्धार्थ से उसका विवाह करने की इच्छा प्रकट की। सिद्धार्थ में बाल्यकाल से ही वीतरागता के लक्षण दिखाई दे रहे थे। शिक्षित होने पर उनकी यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। शुद्धोदन को चिन्ता हुई और सिद्धार्थ को संसारी बनाने के लिए उन्होंने उनका विवाह कर देना निश्चित किया। उन्होंने यशोधरा के रूप और योग्यता को देखकर उसे सिद्धार्थ के विवाह योग्य समझा। जब राजा शुद्धोदन ने कुमारी यशोधरा के पिता दण्डपाणि के पास अपने दूत द्वारा विवाह का प्रस्ताव भेजा, तब दण्डपाणि ने कहा कि राजा शुद्धोदन चाहे कितने ही बड़े राजा क्यों न हों; पर जब तक मैं राजकुमार की वीरता की परीक्षा न कर लूँगा, तब तक उनके साथ

अपनी पुत्री का विवाह नहीं कर सकता। यह बात सुनकर शुद्धोदन बड़ी चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने सोचा कि मेरा लड़का तो रात-दिन दया-धर्म की चिन्ता में पड़ा रहता है, वह क्योंकर अपनी वीरता की परीक्षा दे सकेगा ? जो हो, उन्होंने दण्डपाणि की बात राजकुमार के कानों तक पहुँचा दी। राजकुमार सिद्धार्थ उसी समय परीक्षा देने के लिए तैयार हो गए। राजा की चिन्ता मिट गई। उन्हें आशा की ज्योति दिखाई देने लगी।

उन्होंने दण्डपाणि को कहला भेजा कि क्षत्रिय का पुत्र अपनी वीरता की परीक्षा देने से कभी मुख नहीं मोड़ सकता। आप जब चाहें, राजकुमार सिद्धार्थ की परीक्षा ले सकते हैं। यह सुनते ही दण्डपाणि ने इस अवसर के लिये कई लोगों को निमन्त्रित किया। महाराज शुद्धोदन भी राजकुमार सिद्धार्थ को लेकर वहाँ पहुँच गए। वहाँ राजकुमार ने अस्त्र-शस्त्र-संचालन आदि के कौशल दिखाकर लोगों को मुग्ध कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने वेद-वेदांग और इतिहास-पुराण आदि में भी अपने विद्याबल का पूर्ण परिचय दिया। तब दण्डपाणि ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह राजकुमार सिद्धार्थ के साथ कर देना स्वीकार कर लिया।

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त देखकर दण्डपाणि ने अपनी कन्या यशोधरा का विवाह युवराज सिद्धार्थ के साथ कर दिया।

वर-वधू के अपनी राजधानी कपिलवस्तु में लौट आने पर बहुत दिनों तक वहाँ बड़ी धूमधाम और चहल-पहल रही। बूढ़े

राजा ने राजकुमार और उसकी पत्नी के लिये एक सुन्दर महल बनवा दिया। राजा शुद्धोदन के आनंद का भला क्या ठिकाना था? पहले क्योंकि रात-दिन जो इन्हें यही भय लगा रहता था कि मेरा पुत्र कहीं घर-बार छोड़कर संन्यासी न हो जाय, वह भय अब जाता रहा। वे दिन-रात इस नई जोड़ी के आनन्द और अभाव के लिये सब प्रकार के साधन जुटाते रहते। प्रत्येक ऋतु में ऋतुओं के अनुसार उनके रहने का स्थान बदल दिया जाता था और सब महलों की सजावट नये-नये ढंग से की जाती थी। इसी प्रकार सिद्धार्थ-दम्पति बड़े सुख से अपना जीवन बिताने लगे। राजकुमार अपने अनुकूल पत्नी पाकर और यशोधरा सर्व-गुण-सम्पन्न स्वामी को पाकर अपने को धन्य मानती। राजा शुद्धोदन अपने बेटे और बहू को इस तरह सुख से रहते देख अपने भाग्य की सराहना करते तृप्त न होते थे। सचमुच, इस समय इस नई जोड़ी का पवित्र प्रेम वर्षाकाल की नदी की भाँति पूर्ण उमंग पर था। ऐसा मालूम होता था, मानो हंसों की जोड़ी विचर रही हो। इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो गए। दिन जाते क्या देर लगती है। सुख के दिन वायु की गति के समान बीतते चले जाते हैं। कोई जानता भी नहीं कि वे किधर से आए और किस ओर चले गए।

एक दिन, जब कि रात बीत चुकी थी; आकाश में प्रभात की प्रथम किरण का उदय हो आया था और प्रभात-वायु मंद-मंद बह रहा था; राजकुमार की निद्रा भंग करने के लिये गायकों ने प्रभाती गानी शुरू की। पर आज इस प्रभाती को राजकुमार ने दूसरे रूप

मेरी किसी त्रुटि का ही परिणाम न हो। इस विचार से प्रेरित होकर एक दिन अवसर पाकर यशोधरा ने अपने पति से कहा—'नाथ! मैं आजकल देखती हूँ कि आपका मन किसी काम में नहीं लगता। न तो आप रुचि के साथ खाते-पीते हैं, और न ही कहीं घूमने-घामने के लिये जाते हैं, न मीठी नींद सोते हैं, और न मुझ से ही पहले की भाँति तन्मयता से बातें करते हैं। आपका मुख उदास रहता है। आँखों का वह प्रेम-भरा भाव नष्ट हो गया है। यह सब क्या है? मुझे ऐसा भय होता है कि मुझ से ही कोई अपराध बन पड़ा है, जिस कारण आपका चित्त दुःखी हो रहा है।'

यह सुनकर सिद्धार्थ ने कहा—'आज तुम यह क्या कह रही हो यशोधरा! भला तुम से कभी कोई अपराध हो सकता है?'

यह उत्तर पाकर यशोधरा का सन्देह जाता रहा किन्तु सिद्धार्थ के मन की व्यथा ज्यों की त्यों बनी रही। उन्हें हर एक वस्तु से घृणा होने लगी। एक दिन जब वे रथ पर सवार होकर नगर-दर्शन के लिये जा रहे थे, तो उन्होंने एक वृद्ध और दुर्बल मनुष्य को देखा, जिसके बाल सफ़ेद हो गये थे, हाथ-पैर काँप रहे थे और शरीर एक कंकाल के समान दिखाई दे रहा था। किसी दूसरे दिन फिर जब वे नगर में घूम रहे थे, तो उन्होंने एक रोगी मनुष्य को देखा। एक और दिन उन्होंने लोगों को एक शव श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा। इन घटनाओं का सिद्धार्थ पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वे दिन-रात बुढ़ापा, रोग और मृत्यु की ही आशंका करने

लगे। वे ज्यों-ज्यों इन बातों को सोचते, त्यों-त्यों उनके मन का वैराग्य बढ़ता चला गया।

उन्हीं दिनों उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-जन्म का समाचार पाते ही सिद्धार्थ ने सोचा कि अब तो यह माया का बंधन मुझे और भी अधिक जकड़ना चाहता है, इसलिये अब देर करना ठीक नहीं। उस समय पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में खुशी के बाजे बज रहे थे, मंगल-गीत गाये जा रहे थे, याचकों को मुँह-माँगा दान मिलता था। उन्होंने इन उत्सवों की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया और यशोधरा से विदा लेने की इच्छा से वे महलों की ओर बढ़े।

जब वह यशोधरा के राजमहल में पहुँचे तो रात अधिक हो गई थी और गाना-बजाना बंद हो चुका था। दीपक झिलमिला रहे थे। सिद्धार्थ धीरे-धीरे यशोधरा के कमरे में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि यशोधरा अपने बच्चे को गोद में लिये बेसुध सोई हुई है। उस बेचारी को क्या पता था कि उसकी यह रात सुख की अन्तिम रात है। उसे क्या मालूम था कि उसके प्राणाधार उसी समय उसे सदा के लिये छोड़कर जा रहे हैं। यदि वह इस बात को जान जाती, तो शायद आज यह इतिहास कुछ और ही तरह का बन गया होता। सिद्धार्थ ने जी भर कर अपनी पत्नी और पुत्र को देखा और चाहा कि एक बार बच्चे को गोद में उठाकर उसे गले से लगा लें, परन्तु तुरन्त ही उसके मन में आया कि माया का यह जाल भी काट डालना ही उचित है और एक बार फिर आँखें

भर कर स्त्री-पुत्र को देख, उनकी भलाई के लिये भगवान् से प्रार्थना करता हुआ वह चुपचाप महल से बाहर हो गया।

अपने राज्य की सीमा पर पहुँच उन्होंने राजसी वेश-भूषा छोड़कर संन्यास धारण कर लिया। उनका सारथी छंदक यह देखकर रोने लगा परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ ने समझा-बुझाकर उसे कंपिलवस्तु की ओर वापस लौटा दिया।

प्रातःकाल होते ही भोली यशोधरा को पता चला कि उसके स्वामी उसे सर्वदा के लिए छोड़कर चले गये हैं, तब उसके शोक का पारावार न रहा। उसके रोदन और दुःख से पशु-पक्षी तक व्याकुल हो उठे। सारे नगर में शोक छा गया। यशोधरा का जीवन ही शोक का जीवन बन गया। उसने भी राजसी वस्त्र और अलंकार त्यागकर संन्यासिनी के वस्त्र पहन लिये और संन्यासिनियों का-सा जीवन बिताने लगी।

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृही में विद्वानों का सत्संग करते हुए गयाजी पहुँचे। राजगृही के राजा बिम्बिसार ने अपना राज्य तक देकर उन्हें अपने यहाँ रोकना चाहा, पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। राजा को उन्होंने उपदेश दिया और सिद्धि लाभ करके बिम्बिसार को दर्शन देना स्वीकार किया। निरंजना नदी के किनारे गौतम (सिद्धार्थ) ने तपस्या आरम्भ कर दी। पाँच भिक्षु, जो उनके साथी थे, तपस्या से अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण तपो-भ्रष्ट होकर उन्हें छोड़ गए।

एक दिन निरंजना नदी के पार उन्होंने एकान्त में एक पीपल का वृक्ष देखा। वह स्थान उन्हें समाधि के लिये बहुत उपयुक्त जान पड़ा। पीछे यही पीपल का वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और यहीं समाधि में सिद्धार्थ को निर्वाण का तत्त्व दृष्टिगोचर हुआ। स्वयं निष्पाप होकर वह सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बन गए और तब प्राणि-मात्र के लिए उन्होंने मुक्ति का मार्ग खोल दिया। कर्मकाण्ड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीव-हिंसा का घोर विरोध किया। जो पाँच भिक्षु उन्हें छोड़कर चले गए थे, उन्हीं को सब से पहले उन्होंने उपदेश दिया। संसार भर में महात्मा बुद्ध के उपदेशों की धूम मच गई। सारनाथ में ही सब से पहले धर्म-चक्र का परिवर्तन हुआ।

जब राजा शुद्धोदन को अपने पुत्र के समाचार मिले तो उन्होंने उन्हें बुलाने के लिए दूत भेजे किन्तु कपिलवस्तु से जितने भी दूत उन्हें लेने गए, वे सब के सब उनके दर्शन और उपदेशों से स्वयं संसार-त्यागी हो उनके शिष्य हुए।

कुछ दिनों के अनंतर गौतम बुद्ध स्वयं कपिलवस्तु पधारे। प्रातःकाल जब वे भिक्षा के लिये नगर में निकले तो राजधानी में हलचल मच गई। जब वे अपने पिता के पास भिक्षा लेने पहुँचे तो राजा ने कहा—'राजकुमार होकर भी तुमने भिक्षा-वृत्ति क्यों स्वीकार की ? मेरे यहाँ क्या नहीं था ? क्या हमारे कुल की यही परिपाटी है ?'

बुद्ध ने कहा—'नहीं, यह कपिलवस्तु के राजकुल की परिपाटी नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है।'

वहाँ से गौतम बुद्ध राजमहल में पधारे। हज़ारों स्त्री-पुरुष वहाँ पहुँच गये। उन्हें देखकर किसी की आँखें भर आईं, किसी का जी भर आया और कोई विस्मय में डूब गया, कोई निन्दा और कोई प्रशंसा करने लगा। बुद्ध ने सम्पूर्ण जनता को उपदेश दिया।

कपिलवस्तु में सभी ने उनका उचित आदर-सत्कार किया। किन्तु यशोधरा उनके पास नहीं आई। उसे जब उनके आगमन का समाचार सुनाया गया तो उसने कहा—'भगवान् की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।'

अगले दिन ही प्रातःकाल यशोधरा ने देखा कि उसके महल के नीचे एक वृक्ष की छाया में काषायवस्त्रधारी एक तेजस्वी संन्यासी बैठे हैं। यशोधरा का पुत्र राहुल इस समय तक दश वर्ष का हो चुका था और वह अपनी माँ से सदा यही प्रश्न पूछा करता कि उसके पिता कहाँ हैं? उस संन्यासी को देखकर यशोधरा भीतर गई और कुमार राहुल से बोली—'चिरंजीव! तुम्हारे पिता आए हैं!'

राहुल आनंद से उछल पड़ा और पूछने लगा—'बताओ, वह कहाँ हैं?'

यशोधरा राहुल को बाहर ले आई और बड़ी गम्भीरता से उस महात्मा की ओर संकेत करके बोली—'वह तेरे पिता हैं पुत्र!'

राहुल दो-चार क्षणों तक चुपचाप उनकी ओर देखता रहा और उसके बाद माँ से पूछने लगा—'माँ, वह घर में क्यों नहीं आते ?'

यशोधरा ने कहा—'वह घर में न आने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। परन्तु तुम तो उनके पास जा सकते हो! चिरंजीव, जाओ और उनसे अपना उत्तराधिकार माँगो।'

राहुल दौड़कर उस महात्मा के पास चला गया और जाते ही उनसे लिपटकर बोला—'पिता जी, मेरा उत्तराधिकार मुझे भी दीजिए न!'

महात्मा बुद्ध के मुख पर मुस्कराहट की रेखा-सी घूम गई और अपनी गेरुवी चादर उन्होंने बालक राहुल के हाथों में देकर कहा—'कुमार, यही मेरी सम्पत्ति है! यही तेरा उत्तराधिकार है।'

यशोधरा यह सब देख रही थी। उसकी आँखों में आँसू भर आए। अंत में वह भी अपने पति के पास जा पहुँची। और महात्मा बुद्ध ने उन दोनों को अपना अनुयायी बना लिया।

मीराबाई

मीराबाई की कविता भारतीय-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इस रत्न का मूल्य सदा बढ़ता ही रहेगा, घटेगा नहीं। मीराबाई का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय समस्त भारत में वैष्णव-साहित्य की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की शाखाओं का पूर्ण प्रभाव था। कृष्ण-भक्तिशाखीय कवियों में विद्यापति ही हिन्दी के सर्व प्रथम कवि हुए हैं। इसके बाद मीरा और मीरा के समकालीन सूरदास, रैदास आदि। उधर राम-भक्ति के सर्व-श्रेष्ठ कवि तुलसीदास हुए। मीरा के पद हिंदी और गुजराती साहित्य में अपना अमर स्थान रखते हैं। मीरा का जीवन बहुत सी आश्चर्यमयी घटनाओं से परिपूर्ण है। एक राजवंश में उत्पन्न होकर सांसारिक बातों से विरक्त हो जाना और उस विरक्ति में एक भावुक कवियित्री का प्रादुर्भाव, कम आश्चर्यजनक बात नहीं।

जन्मकाल

मीरा जोधपुर के राठौर-वंश में उत्पन्न हुई थीं। उनके पिता का नाम रत्नसिंह और दादा का नाम राव दूदा जी था। इनका जन्म कुड़की या चौकड़ी में हुआ। इनके पिता रत्नसिंह को कुड़की, बाजोली आदि बारह गाँव मेड़ता की ओर से जागीर में मिले थे। मीरा की माता का उनके बाल्यकाल में ही देहान्त हो गया था, जिसके कारण अधिक काल वह अपने दादा के यहाँ मेड़ता में ही रहीं और वहीं उनका पालन-पोषण हुआ।

बाल्यकाल

मीराबाई अधिकतर अपने दादा ही के पास रहा करती थीं। इनके दादा दूदा जी परम वैष्णव थे। वे मीरा को अपनी गोद में बैठाकर उसे भक्ति-रस के भजन सुनाते और बालिका मीरा उन्हें बड़े ध्यान से सुनती और उन गीतों को अपनी तुतली मधुर बोली में दोहराया करती। उन भजनों का उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मीरा को बचपन में बड़े लाड़-प्यार से रखा गया; क्योंकि वह अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थी। कुछ दिनों के बाद मीरा श्रीकृष्ण की मिट्टी की मूर्ति बनाने लगीं। इसी प्रकार वे नित्य मूर्तियाँ बनातीं और उन्हें एकान्त में देर तक देखती रहतीं। उन्हें इसमें अत्यन्त आनन्द मिलता। जो व्यक्ति बालिका मीरा को इस तरह मूर्ति की ओर एकटक ध्यान लगाये देखता, वह आश्चर्यचकित रह जाता। उस

समय यह किसे पता था कि यही छोटी-सी बालिका बड़ी होने पर राजपूताना की शुष्क और रेतीली भूमि में भक्ति की मन्दाकिनी बहा देगी ? कौन जानता था कि यही बालिका कभी अपने आदर्श जीवन से सीसौदिया तथा मेड़तिया के राजवंशों की प्रतिष्ठा बढ़ायेगी ?

कहा जाता है कि इनके दादा जी के यहाँ एक बार एक साधु आया। उसके पास गिरिधर गोपाल जी की एक मूर्ति थी। मीरा उस मूर्ति को देखकर मुग्ध हो गईं और उसे पाने के लिए मचल गईं। निरुपाय साधु ने वह मूर्ति मीरा को दे दी। अब मीरा अपने गुड्डा-गुड़ियों के उत्सवों के साथ गिरिधर गोपाल जी के त्यौहार भी मनाने लगीं। बचपन का यही खिलौना उनके जीवन का आधार और सर्वस्व बन गया।

विवाह

मीरा जब लगभग दस वर्ष की हुईं, तब उनकी माता का देहान्त हो गया। तब दूदा जी ने उन्हें अपने पास बुला लिया था। यहाँ दूदा जी की कृष्ण-भक्ति का मीरा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मीरा के कंठ से सुमधुर भजनों को सुनकर दूदा जी बड़े प्रभावित होते थे। सयानी हो जाने पर मीरा का विवाह मेवाड़ के महाराणा साँगा के बड़े पुत्र भोजराज के साथ कर दिया गया। तब तक मीरा के दादा राव दूदा जी की मृत्यु हो चुकी थी। विदा के समय मीरा अन्य सामग्रियों और खिलौनों के साथ अपनी गिरिधर गोपाल जी की मूर्ति को भी अपनी ससुराल में ले गईं।

पति की मृत्यु

विवाह हो जाने के बाद मीरा अपनी सुसराल में गईं। वहाँ भी दिन-रात पूजा-पाठ में लीन रहतीं, गिरिधर गोपाल की मूर्ति के सामने बैठकर उनके प्रेम और उनकी भक्ति में पद बनाया करती थीं। मीरा जब पूजा-पाठ से निबटतीं, तब अपने पति भोजराज की सेवा करतीं। वे गोपाल जी की पुजारिन होने के साथ-साथ अपने पति की भी सच्ची पुजारिन थीं। विवाह के कुछ वर्ष बाद उनको भारी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। सास-ससुर की मृत्यु हो गई। इतना ही नहीं, मीरा को पति के सुख से भी वंचित होना पड़ा क्योंकि थोड़े ही दिनों बाद मीरा को अकेली छोड़ कर उनके पतिदेव भी चल बसे। पति की मृत्यु से मीरा के कोमल हृदय को गहरी चोट पहुँची। परिणामतः उनका रहा-सहा मोह-ज्ञान भी नष्ट हो गया और उनके हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गई। दो वर्ष बाद उनके पिता रत्नसिंह भी खानवा के युद्ध में बाबर से लड़ते हुए मारे गये। इस प्रकार पति, सास-ससुर और पिता की मृत्यु से मीरा ने समझ लिया कि वास्तव में मनुष्य का जीवन मिट्टी के खिलौनों ही के समान है। मीरा के हृदय में संसार की मोह-ममता बाक़ी नहीं रही। उनके हृदय में वैराग्य की ज्योति जल उठी और वह अब अपने गिरिधर गोपाल ही में जीवन की सच्ची और अमर अभिलाषा देखने लगीं। उनका भक्ति-भाव अब और भी अधिक प्रबल हो उठा।

विघ्न-बाधाओं का सामना

पति की मृत्यु के बाद उनको लोगों ने वैरागिनी के रूप में देखा। वह दिन-रात अपने गिरिधर की पूजा में निमग्न रहतीं। राणा साँगा की मृत्यु के बाद चित्तौड़ की गद्दी पर राणा विक्रमादित्य बैठे। वह एक बड़े कड़े स्वभाव के मनुष्य थे। उन्हीं के कारण मीरा को और भी अधिक संकटों का सामना करना पड़ा।

उन दिनों मेवाड़ में रैदास भक्त की बड़ी प्रसिद्धि थी और उनके भक्ति-रस के पद घर-घर में गाये जाते थे। मीरा ने भी रैदास ही का आश्रय लिया और उन्हें अपना गुरु भी मान लिया। रैदास की कृष्ण-भक्ति का मीरा पर और भी अधिक प्रभाव पड़ा! अब वे लोक-लाज की परवाह न कर साधु-सन्तों से मिलने लगीं। क्रमशः उनके दरवाज़े पर नित्य साधु-सन्तों की भीड़ रहने लगी। मीरा उन्हें भोजन करातीं और दान-पुण्य भी करतीं। कभी-कभी मीरा गिरिधर के मन्दिर में चली जातीं और वहाँ बहुत देर तक नाचा करतीं और भजन गाती रहतीं।

राणा विक्रमादित्य को मीरा का यह भक्ति-नाटक बहुत बुरा लगा और वह इसे अपने राजवंश की प्रतिष्ठा को गिराने वाला समझने लगा। पहले उन्होंने मीरा को समझाने के लिए सहेलियाँ नियुक्त कीं, जो मीरा को भक्ति-मार्ग से हट जाने के लिए दिन-रात समझाने लगीं। मीरा ने एक दिन अपनी इन सहेलियों से कहा—

बरजी मैं काहू की नाँहिं रहूँ।
सुनो री सखी तुम चेतन होइ कै, मन की बात कहूँ ॥
साधु संगति करि हरि सुख लेऊँ, जग सूँ मैं दूरि रहूँ ।
तन धन मेरो सब ही जावो, भलि मेरो सीस लहूँ ॥
मन मेरो लागो सुमिरण सेती, सबका मैं बोल सहूँ ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, सतगुर सरण गहूँ ॥

इसी तरह कई पदों के द्वारा मीरा ने अपनी सखियों को अपने हृदय का भाव समझाया, जिससे वे दोनों अत्यन्त प्रभावित हुईं। वे गई तो थीं मीरा को भक्ति-मार्ग से अलग करने, किन्तु वे स्वयं मस्त होकर मीरा के साथ नाचने-गाने लगीं।

यह समाचार सुनकर विक्रमादित्य और भी क्रोधित हुआ। वह ज्यों-ज्यों मीरा को भक्ति-मार्ग से अलग करने का प्रयत्न करता त्यों-त्यों मीरा और भी अधिक साधु-सन्तों की ओर झुकती जाती। अब राणा से यह नहीं देखा गया और उन्होंने मीरा को मार डालने का निश्चय किया। उन्होंने विष का एक प्याला मीरा के पास यह कहकर भेजा कि यह गिरिधर जी का चरणोदक है। मीरा को वास्तविक बात का पता चल गया था। वे उसे चरणामृत के समान ही पी गईं और गिरिधर की मूर्ति के सामने नाचने लगीं। मन्दिर में स्वर गूँज उठा—

घुँघरू बाँधि मीरा नाची रे पद घुँघरू।
राणा जी ने भेजा विष प्याला,
पीवत ही मीरा हाँसी रे पद घुँघुरू।

कोई कहे मीरा हो गई पागली,
मैं तो श्याम रंग राची।

भक्ति से मीरा के सराबोर शरीर पर उस हालाहल विष का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जब राणा विक्रमादित्य को यह बात मालूम हुई, तब उन्हें अत्यन्त आश्चर्य तो हुआ, परन्तु इससे भी उनका क्रूर-हृदय विचलित नहीं हुआ। वे मीरा को मार डालने के निश्चय पर दृढ़ रहे और कुछ ज़हरीले साँपों को एक पिटारी में बन्द कर उन्होंने उपहार-स्वरूप मीरा के पास भेज दिया।

प्रेम और भक्ति की दीवानी मीरा! उनका स्पर्श ही विष को अमृत और हिंसक प्राणियों को पालतू बना देता! इन साँपों का भी मीरा पर तनिक प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने मीरा को डसा ही नहीं। किन्तु राणा बराबर निरपराध मीरा पर अत्याचार करते रहे। मीरा भी अब ऊब उठीं। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के पास पत्र के रूप में अपना एक पद भेजकर प्रार्थना की कि अब बताइए, क्या करना चाहिए? उन्होंने लिखा—

श्री तुलसी सुख-निधान, दुख हरन गुँसाईं।
बार हि बार प्रनाम करूँ अब हरो शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबनि उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेश महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हों, गिरिधर लाल मिताई।
सो तौ अब छूटति नाहिं क्यू ही, लगी लगन बरियाई॥

मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियौ समुझाई॥

गोस्वामी जी ने उन्हें अपने पत्र में आश्वासन दिया और भक्ति पर दृढ़ रहने पर ज़ोर दिया और लिखा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाडिये कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

चित्तौड़ से विदा

मीरा पहले ही राणा के अत्याचारों से ऊब चुकी थीं। अब उन्होंने चित्तौड़ छोड़ने का निश्चय कर लिया। एक रात महल से बाहर निकलकर चित्तौड़ को सदा के लिये प्रणाम करके वह वहाँ से चल पड़ीं। चित्तौड़ से चलकर मीरा अपने काका राव बीरमजी के यहाँ पहुँचीं। उन्होंने मीरा का बड़ा सत्कार किया। मीरा वहाँ बड़े सुख से रहने लगीं। वहाँ भी वे रात-दिन गिरिधर गोपाल की उपासना करतीं और उनकी भक्ति के गीत गाया करती थीं। वहाँ उन्हें पूजा-पाठ की स्वतंत्रता थी, किन्तु अब उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल चुकी थी। इसी लिये साधु-सन्त मीरा से मिलने के लिए वहाँ भी आने लगे, पर उनसे मिलने की उन्हें वहाँ पर भी स्वतन्त्रता नहीं थी। अन्त में एक दिन मीरा मेड़ते से भी निकल पड़ीं।

मीरा की यात्रा

अब मीरा बिलकुल संन्यासिनी बन गईं और अपने काका के घर को भी छोड़कर चल दीं। अब उसे किधर जाना है, पता नहीं, पर वह चली जाती हैं। नगर-नगर, गाँव-गाँव, गली-गली, वन-उपवन, नदी-झरने, पहाड़-घाटी पार करती हुई जा रही हैं। रात-रात दिन-दिन चलती हैं। पैरों में छाले पड़ गये हैं। शरीर काँटों से जर्जरित और लहू-लुहान हो गया है परन्तु उसकी गति तेज़ है, और उसके हृदय में अमिट भक्ति भरी हुई है। वह किस लिए और कहाँ जा रही है; इस सयम तक इतना भी उसे पता नहीं। असहाय और निर्दोष मीरा, भक्ति की भिखारिणी मीरा, संकटों की शिकार मीरा, वही मीरा जिसे माता ने प्यार से गोदी में पाला, पिता ने पुत्र से भी अधिक स्नेह से रखा, पति ने उसमें ही अपने को पाया, वही राजनन्दिनी, वही राजरानी मीरा, वही महलों में रहने वाली मीरा आज पथ-पथ में भटक रही है परन्तु फिर भी वह विचलित नहीं है। उसकी भक्ति अब हिमालय की भाँति उच्च और अटल है। अपने पदों को सुमधुर स्वरों में गाती हुई वह चली जा रही है। उस विश्वमोहिनी कविता को सुनकर, संगीत में तन्मय हो मोर-मयूरी नाच उठते, मृग-मृगी उसके पैरों के पास आ खिलवाड़ करने लगते, पक्षी नीरव होकर उसका संगीत सुनते। यही वह काव्य-मूर्ति मीरा है, यही वह मरुस्थल की मन्दाकिनी है। वन में वह लताओं को छूकर गाती है—

मन रे परस हरि के चरण,
सुभग सीतल कमल कोमल त्रिविध ज्वाला हरन।

जब वह वृन्दावन में पहुँचती हैं, तब यमुना के किनारे जाकर वह गाती हैं—

नन्द नन्दन बिलमाई,
बदराने घेरि आई;
इत घन गरजै उत घन गरजै,
चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिशि से आवत,
पवन चलत पुरवाई;
दादुर मोर पपीहा बोलत,
कोमल शब्द सुनाई।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
चरण कमल चित लाई।

उन्हीं दिनों वृन्दावन में गोस्वामी तुलसीदास भी रहा करते थे। उन्होंने मीरा को बड़े आदर-सत्कार से रखा। कुछ दिन मीरा वृन्दावन में रहीं। वह नाना उपाय से मन को समझातीं, पर मन नहीं मानता। मीरा के मन की अशान्ति बढ़ती गई और गिरिधर गोपाल जी के दर्शनों के लिए वह व्याकुल हो उठीं। उसका हृदय गा उठा—

तुम्हरे कारण सब सुख छोड़या,
अब मोहि क्यूँ तरसाओ।

अब छोड़्याँ नहिं बनै प्रभू जी,
चरण के पास बुलाओ ।।
विरह विथा लागी उर अन्दर,
(प्रभुजी) सो तुम आप बुझाओ ।
मीरा दासी जनम-जनम की,
(प्रभुजी) मम चित्त सूँ चित्त लगाओ ।।

वृन्दावन में कुछ दिन रहकर मीरा द्वारिका चली गईं और वहीं साधु-सन्तों तथा रणछोड़ जी की सेवा में दिन बिताने लगीं। इधर चित्तौड़ पर एक के बाद एक विपत्ति आई और राणा ने समझा कि यह निर्दोष मीरा को सताने का ही परिणाम है। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और मीरा को घर वापस बुलाने के लिए उसने बहुत-से संदेशवाहक ब्राह्मणों को भेजा। उन्होंने द्वारिका पहुँचकर मीरा से चित्तौड़ वापस चलने की प्रार्थना की। पर मीरा ने चित्तौड़ आना स्वीकार नहीं किया। मीराबाई का द्वारिका में ही देहान्त हुआ। आज संसार में मीरा का स्थूल शरीर भले ही नहीं है, किन्तु युगयुगान्त तक वह अपनी भक्ति, अपने दिव्य-चरित्र और अपनी विश्वमोहिनी कविता के कारण अमर रहेंगी।

सती चन्दनबाला

जैनियों के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के जीवनकाल में चम्पापुर नामक नगर में दधिवाहन नामक राजा राज्य करता था। उसकी धारणी रानी और शीलशिरोमणि चन्दन-बाला नामा पुत्री थी। उसी काल में कौशाम्बी नगरी, जहाँ भगवान् ने अभिग्रह ग्रहण किया था, के अधिपति शतानीक महाराज थे। किसी कारण दधिवाहन और शतानीक राजा में परस्पर विरोध हो गया।

एक समय शतानीक राजा अपना कटक सज्जित करके संग्राम के लिए चम्पा नगरी पर चढ़ आया। उस संग्राम में सहस्रों पुरुषों का वध हुआ। रुधिर नदियों की आकृति में बहने लगा। अस्थियों की राशियाँ लग गईं। अंत में शतानीक राजा ने जय प्राप्त करके नगर लूटने की आज्ञा दी।

उस लूट में एक सैनिक राजभवन में घुसकर रानी और उसकी कन्या चन्दनबाला को बलात्कार उठाकर कौशाम्बी नगरी में ले आया। उस समय रानी ने किसी शस्त्रादि के प्रयोग से अपनी घात कर ली, जिससे वह संसार त्यागकर परलोकवासिनी हुई।

पश्चात् सैनिक ने विचार किया—'एक तो मर गई यदि मैंने दूसरी को कामभोगादि की आशा से कुछ कहा तो ऐसा न हो कि वह भी प्राण छोड़ दे और मेरे हाथ कुछ भी न आवे।'

यह विचार कर चन्दनबाला को बाज़ार में ले जाकर विक्रय करने लगा। पुण्य योग से वहाँ पर धन्ना नामक सेठ, जो बड़ा धर्मज्ञ और सत्यवादी था, आ गया। उसने चन्दनबाला को मोल ले लिया, और उसे धर्मपुत्री बनाकर अपने घर में ले आया।

सेठ जी की भार्या का नाम मूला था। वह बड़ी क्लेशप्रिया तथा कलहकारिणी थी। सेठ जी ने उसे कहा—'यह अबला बड़ी दुखिया है। मैं इसे अपनी धर्मपुत्री बनाकर लाया हूँ। अतः तू भी इसे निज पुत्री समझकर इसकी रक्षा कर।' इतना कहकर सेठ जी अपने व्यवहार में लग गए।

इस प्रकार समय व्यतीत होने लगा किन्तु दुष्ट मूला के मन में सदा दुष्ट भाव रहते थे। वह विचारती थी कि सेठ जी इसे कन्या २ तो कहते हैं, स्यात् यह इसे अपनी स्त्री बना लें क्योंकि यह अतिरूपवती और प्रौढयौवना है। यदि मैं इस चन्दनबाला को मार दूँ तो शंका जाती रहे। ऐसा विचार कर वह छिद्र देखने लगी।

एकदा किसी कार्य के लिए सेठ जी कहीं अन्य ग्राम में गए। पश्चात् मूला ने सुअवसर जान क्रोध में भरकर चन्दनबाला का सिर मुँडा दिया और उसके पगों में जंजीर डालकर तथा कुत्सित वस्त्र पहनाकर, भूमि-गृह में (गुप्त घर या भोरा में) डालकर बाहर से ताला लगा दिया और फिर निर्भीक होकर दिवस बिताने लगी।

वह राजकन्या भोरे में पड़ी हुई पंचपरमेष्ठी अर्थात् अपने इष्टदेव का जाप करती थी तथा अपने पाप कर्मों की निन्दा करती हुई अनित्यभावना भाती थी।

इसी दशा में तीन दिन अतिक्रांत हो गए तब सेठ जी कार्य्य समाप्त करके निज गृह में आये और जब चन्दनबाला को कहीं नहीं देखा तो मूला से पूछा—'चन्दनबाला कहाँ है ?' वह बोली—'मुझे क्या ख़बर। वह क्या मुझे पूछकर गई है ?'। इतना कहकर वह क्रोध के वश होकर कहीं अन्यत्र चली गई। सेठ जी ने अपने समीपवासियों से पूछा, तब एक वृद्धा स्त्री ने समस्त वृत्तान्त कह दिया।

ऐसा हाल सुनकर सेठ जी अत्यन्त घबराये तथा त्वरित ही भोरे में जाकर ताला तोड़ दिया और अपनी पुत्री को ऐसी दीनावस्था में देखकर सेठ जी के नेत्रों से उष्ण जल झरने लगा।

चन्दनबाला को तीन दिन से भूखी-प्यासी जानकर उसे और तो कुछ न सूझा। उसने उड़द के बाकुले, जो समीप ही पड़े हुए थे और अश्व के निमित्त बनाये गये थे, तुरन्त चन्दनबाला के

सम्मुख रख दिये और कहा—'पुत्री ! तू अभी इनको खा, मैं तेरे लिए मिष्टान्न तथा जंजीर काटने के लिए लोहकार को लाता हूँ।' यह कहकर वह चला गया।

तब चन्दनबाला भोरे के द्वार में देहली पर बैठकर तथा एक पग अन्दर और एक पग बाहर करके उड़द खाने लगी।

अभी खाने न पाई थी कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भिक्षार्थ घूमते हुए वहाँ आ गये। उन्होंने लगभग छः मास से अनशन व्रत लिया हुआ था। उनका अभिग्रह था कि 'कोई राजकन्या चौखट पर बैठी हो, एक पग अन्दर और एक बाहर हो, राजकन्या होने पर भी दासी बनी हुई हो, पैरों में बेड़ी हो, सिर मुँडा हो, हँसती भी हो और रोती भी हो। ऐसी अवस्था में यदि वह भिक्षा देगी तभी भिक्षा ग्रहण करूँगा और व्रत की पारणा करूँगा।'

भगवान् के दर्शन करके चन्दनबाला परम हर्षित होकर इस प्रकार बोली—'हे स्वामिन्! मेरे से यह उपस्थित शुद्ध वा निर्दोष आहार लीजिए।'

इस प्रकार के वचन सुनकर भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण किया तो निश्चय हुआ कि अभी तक मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई। क्योंकि वह कन्या हँसती तो थी किंतु रोती नहीं थी। ऐसा विचार कर तुरन्त लौट गए। जब भगवान् आहार के बिना ग्रहण किये ही चल पड़े तब चन्दनबाला को बड़ी अशान्ति

और व्याकुलता हुई और उसके यह अध्यवसाय हुए—'मैं ऐसी निर्भागिनी हूँ जो ऐसे सुपात्र तपस्वी को आहार न दे सकी, अपितु अपने पूर्वकृत पापों का पश्चात्ताप करके अश्रुपात करने लगी।'

उसकी ऐसी दशा देखकर और अपने अभिग्रह को पूर्ण हुआ जान भगवान् ने लौटकर उससे शुद्ध प्राशुक आहार ग्रहण किया। यह प्रतिज्ञा पाँच दिन कम छः मास में सम्पूर्ण हुई, अर्थात् भगवान् को पाँच दिन न्यून छः मास पीछे अभिग्रह के अनुसार यह उड़द-आहार मिला, जिससे आपने इस घोर अभिग्रह की पारणा की।

ऐसा शुद्ध आहार ऐसे सुपात्र को देने से वहाँ देवों ने साढ़े बारह कोटि सुनइयों की दिव्य वर्षा की और चन्दनबाला की बेड़ियाँ काट दीं तथा उसके शरीर को शृङ्गारयुक्त कर दिया। पश्चात् राजा ने उसके पास आकर बड़े आदर से कहा—'हे कन्ये! तू धन को ग्रहण कर और मैं तेरा विवाह किए देता हूँ परन्तु चन्दनबाला ने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया तथा उत्तर में राजा से कहा—'महाराज, मैं विवाह न कराऊँगी, परन्तु जब तक भगवान् को केवल ज्ञान न उत्पन्न होगा तब तक मैं संसार में श्राविका की वृत्ति में रहूँगी, पश्चात् दीक्षा ग्रहण करूँगी।'

श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बाकुलों का आहार-दान लेकर वहाँ से विहार कर गए। और चन्दनबाला कौशाम्बी नगरी के महाराजाधिराज शतानीक के यहाँ चली गई। वह वहीं रहने लगी। उसका आशय यही था कि जब भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञता

प्राप्त होगी तभी वह उनके चरणों में दीक्षा ग्रहण करके उनकी शिष्या बनेगी।

भगवान् महावीर स्वामी इस प्रकार छद्मावस्था में १२ वर्ष और एक दिन कम छः मास तक घोर तपश्चर्या करते हुए निरन्तर भारतवर्ष में विचरते रहे।

एकदा आप जृम्भि नामक ग्राम के बाहर ऋजुपालिका नदी के उत्तर कूल पर श्यामाक नामक गृहपति के करषण के समीपस्थ वैयावृत्त्य चैत्य (उद्यान) के ईशान कोण में शालवृक्ष से न अति दूर और न अति निकट स्थान पर विराजमान हुए और कायोत्सर्ग करने लग गए।

रात्रि के समय आपको निद्रा जो आई तो आपको दश महान् स्वप्न आए। स्वप्नों के अनन्तर आपकी निद्रा खुली तो आप गोदुह आसनारूढ होकर कायोत्सर्ग में बैठ गये और अनित्य भावना विचारने लगे। आपकी छद्मावस्था का यह अंतिम दिवस था। ग्रीष्म ऋतु थी। वैशाख शुदी दशमी के दिन आपको सर्वज्ञता प्राप्त हुई।

उसी समय स्वर्गलोक में इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए और यह जानकर कि भगवान् को अनंतज्ञान की लब्धि हुई है, वे भगवान् की स्तुति करने के लिए पृथ्वी पर उतरे।

बड़े समारोहपूर्वक आकाश में इस प्रकार देवों को आते-जाते

देखकर चन्दनबाला को भी पता लगा कि भगवान् को केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई है। तब वह तुरंत उनके व्याख्यान-मण्डप में गई और उनके चरणों में दीक्षित होकर साध्वी हो गई। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी थी; इसलिए भगवान् ने उसे शिष्या-समुदाय की आचार्या पद पर स्थापित किया। कई राजाओं और राजामात्यों की कन्याएँ भी, जो चन्दनबाला की सहेली बन गई थीं, उसके साथ दीक्षित हो गई।

भारती

स्वामी शंकराचार्य जिस समय हिंदू-धर्म को बौद्ध-धर्म के प्रभाव से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे और अपने वेदांत मत का प्रतिपादन करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे, उस समय अपने धर्म-प्रचार के कार्य में उन्हें एक स्त्री से बहुत सहायता मिली थी। यह स्त्री और कोई नहीं, उस समय के एक बड़े भारी बौद्ध विद्वान् पंडित मण्डनमिश्र की पत्नी भारती देवी थीं, जो अपने समय की एक महान् विदुषी स्त्री हो चुकी हैं।

भारती के पाण्डित्य का प्रदर्शक एक उदाहरण सर्व-विदित है। एक बार मण्डनमिश्र के साथ शंकराचार्य का शास्त्रों-सम्बन्धी वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ। शास्त्रार्थ से पहले शंकराचार्य ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि शास्त्रार्थ में मेरी हार हुई तो मैं संन्यास परि-

त्याग करके मण्डनमिश्र का शिष्य बन जाऊँगा। इसी प्रकार मण्डनमिश्र ने भी प्रतिज्ञा की थी।

शंकराचार्य और मण्डनमिश्र दोनों ही धुरन्धर विद्वान् थे, इसलिए उनका शास्त्रार्थ कोई मामूली बात तो थी नहीं; ऐसी अवस्था में शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन बने, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न था। लेकिन इसके लिए ज़्यादा दौड़-धूप नहीं करनी पड़ी। सोच-विचार के बाद, मण्डनमिश्र की विदुषी पत्नी भारती देवी को यह सम्मान दिया गया।

शास्त्रार्थ शुरू हुआ। दोनों अपनी-अपनी युक्तियाँ देने लगे और भारती ध्यानपूर्वक उन्हें सुनने लगी। दोनों विद्वान् इस बात से निश्चिन्त थे कि निर्णय योग्य हाथों में है और भारती भी अपनी ज़िम्मेवारी बखूबी जानती थी। लेकिन शास्त्रार्थ के अन्त में उसका निर्णय यही रहा कि मण्डनमिश्र अपने पक्ष के समर्थन में असफल रहे, इसलिए विजयमाला उसने निःसंकोच शंकराचार्य के गले में डाल दी।

इस प्रकार मण्डनमिश्र तो पराजित हो गये, लेकिन भारती ने शंकराचार्य से कहा—'अभी आप पूरी तरह जीते हुए नहीं कहे जा सकते। अब आप मेरे साथ तर्क कीजिए। मुझे भी आप अपने तर्क से परास्त कर दें तभी आप पूरी तरह विजयी कहे जा सकेंगे।'

भारती के ऐसे स्पर्धायुक्त वचन सुनकर शंकराचार्य कुछ

विस्मित हुए, लेकिन उसकी बात को टाल न सके। अंत में शङ्कराचार्य और भारती के बीच शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भारती प्रश्न करने लगी और शङ्कराचार्य उत्तर देने लगे। पश्चात् शङ्कराचार्य ने प्रश्न शुरू किये और भारती उत्तर देने लगी। इस प्रकार रात-दिन शास्त्रार्थ होते हुए महीनों बीत गये, लेकिन न तो शङ्कराचार्य थके और न भारती ही थकी। भारती का पाण्डित्य, धैर्य एवं अध्यवसाय देखकर शङ्कराचार्य स्तम्भित हो गये; और मन-ही-मन सोचने लगे कि मैंने शास्त्रार्थ तो बहुतेरे पण्डितों के साथ किया है, लेकिन ऐसा भारी शास्त्रार्थ तो आज तक किसी के साथ नहीं हुआ। भारती एक भी प्रश्न बाक़ी नहीं छोड़ती थी। एक युक्ति पूरी हुई नहीं कि तुरन्त दूसरी तय्यार रहती। मगर शङ्कराचार्य भी कुछ कम विद्वान् नहीं थे, इसलिए उन्हें हरा नहीं सकी। आख़िर भारती ने कामशास्त्र-संबंधी प्रश्न आरम्भ किये। तब शङ्कराचार्य ने कहा—'मैं संसार-त्यागी हूँ। कामशास्त्र का मुझे किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं है।'

कथा तो इसके बाद यह भी है कि शङ्कराचार्य ने इसके लिए भारती से छः महीने की अवधि माँगी थी। इस समय में हठयोग से अपने शरीर को छोड़कर उन्होंने एक राजा के मृत देह में, जो इसी समय मरा था, प्रवेश किया। राजा की देह में स्थित शङ्कराचार्य ने उसकी रानी से कामशास्त्रसंबंधी ज्ञान प्राप्त किया और छः महीने के अन्दर भारती के प्रश्नों का उत्तर दिया।

शास्त्रार्थ के बाद मण्डनमिश्र, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार,

शङ्कराचार्य के शिष्य हो गये। पतिव्रता भारती देवी ने भी अपने पति का ही अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वोक्त शास्त्रार्थ में विजयी होकर शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र को ही प्राप्त नहीं किया बल्कि भारती देवी जैसी विदुषी स्त्री को भी अपने पक्ष में कर लिया।

शङ्कराचार्य के काम में भारती जैसी स्त्रियों का सहयोग कितना उपयोगी हो सकता था, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। भारती ने सच्चे हृदय से अपना कर्तव्य पालन किया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह शङ्कराचार्य के कामकाज में ही लगी रही। शङ्कराचार्य भी उसकी क़द्र जानते थे। यहाँ तक कि शृंगेरी में उन्होंने उसके लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था, जहाँ उसने अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत किये थे।

—'भारत के स्त्री-रत्न' से

नूरजहाँ

संसार में जिन स्त्रियों ने अपनी सुन्दरता और चतुरता के कारण ऊँचा स्थान पाया है, उनमें नूरजहाँ का स्थान सर्वोच्च है। नूरजहाँ महत्त्वाकांक्षा की मूर्ति थी। दश वर्ष तक अपने पति जहाँगीर के नाम पर इसने भारत जैसे विशाल-साम्राज्य पर शासन किया।

नूरजहाँ खुरासान के बादशाह विगलोर बेग के मन्त्री ख़्वाजा मुहम्मद शरीफ़ के पुत्र ग़यासबेग की लड़की थी। ग़यासबेग की दशा बहुत अवतर हो गई थी। खाने तक के लिये उसके पास कुछ न था। आजीविका की खोज में वह अपनी गर्भवती पत्नी और एक छोटे पुत्र को साथ लेकर भारतवर्ष की ओर रवाना हुआ। खुरासान से भारतवर्ष आते हुए उन दिनों मरुस्थल के मार्ग से आना पड़ता था। मरुस्थल पार करते हुए ग़यासबेग भूख से इतना घबराया, कि वह मौत मनाने लगा। पर पत्नी के सूखे होठों को

देखकर वह मौन हो जाता। इस दुःख से उसका प्रेम संसार से उठने लगा। मरुस्थल पार कर जब वे जंगल में से गुज़र रहे थे, नूरजहाँ पैदा हुई। ग़यासबेग लड़की को वहीं एक वृक्ष के नीचे पत्रों से ढककर आगे को रवाना हुआ। पीछे एक यात्रियों का समूह (काफ़िला) आ रहा था। उसका सरदार मन्सूर रोने का शब्द सुनकर वेग से आगे बढ़ा। उसने देखा कि एक सुन्दर बालिका वृक्ष के नीचे पड़ी है, साँप उस पर छाया कर रहा है। घोड़े की टाप सुनकर साँप चला गया। मन्सूर ने बालिका को उठा लिया। इतने में काफ़िला भी आ गया और वह उसको लेकर चल पड़ा। रास्ते में ग़यासबेग और उसकी स्त्री मिली। मन्सूर ने कहा—'यदि इस बालिका को पालोगे तो मैं तुम्हें हिन्दुस्तान पहुँचा दूँगा। माँ बाप अपनी लड़की से आजीविका पाकर बड़े प्रसन्न हुए। बालिका का नाम मिहरुन्निसा रखा गया। अकबर के दरबार में पहुँचकर मन्सूर ने मिर्ज़ा ग़यासबेग को नौकरी दिलवा दी। जब अकबर को मालूम हुआ कि मिर्ज़ा ग़यासबेग मेरे पिता हुमायूँ को सहायता देने वाले का बेटा है तो उसने उसे अपने महल का प्रबन्धकर्त्ता बना दिया।

मिहरुन्निसा अपनी माँ के साथ आने जाने लगी। महलों में मीना बाज़ार लगता था। वहाँ से महलों की स्त्रियाँ आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदा करती थीं। एक दिन मिहरुन्निसा भी बाज़ार गई थी। सलीम कबूतर उड़ाता हुआ उधर पहुँच गया। सलीम एक फूल तोड़ना चाहता था पर उसके दोनों हाथ रुके हुए थे। उसने

कबूतर मिहरुन्निसा को पकड़ा दिए और स्वयं फूल लाने चला गया। कबूतर फड़फड़ाने लगा और उड़ गया। सलीम जब वापस आया तो उसने अपना कबूतर माँगा। मिहरुन्निसा ने कहा कि कबूतर उड़ गया। सलीम ने पूछा—'किस तरह ?' तब मिहरुन्निसा ने दूसरा कबूतर उड़ाकर कहा—'ऐसे।' सलीम उत्तर पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और मिहरुन्निसा से प्रेम करने लगा।

सलीम धीरे धीरे मिहरुन्निसा पर आसक्त हो गया। अकबर को जब मालूम हुआ कि सलीम मिहरुन्निसा से प्रेम करता है तो वह बड़ा अप्रसन्न हुआ। अकबर ने मिहरुन्निसा का विवाह अलीकुली खाँ नामक एक वीर योद्धा और सुन्दर युवक के साथ कर दिया और उसे ढाका का गवर्नर बनाकर भेज दिया। सलीम के यौवन की पहली उमंग इस प्रकार मन ही मन में रह गई।

अकबर के बाद सलीम जहाँगीर के नाम से बादशाह हुआ। सलीम मिहरुन्निसा को भूला नहीं था। अब उसने अपना मार्ग साफ़ पाया। अलीकुली ने अपने शेर को बिना हथियार के मार दिया था, इस कारण उसका नाम शेर अफ़ग़ान हो गया था। जहाँगीर ने शेर अफ़ग़ान को दिल्ली बुलाया किंतु उसने इसमें अपना अपमान समझ विद्रोह कर दिया। फिर क़ुतबुद्दीन खाँ को जहाँगीर ने शेर अफ़ग़ान को पकड़ने भेजा। धोखे से पकड़ने के लिए क़ुतबुद्दीन ने शेर अफ़ग़ान को बुलाया। शेर अफ़ग़ान को क़ैद करते हुए क़ुतबुद्दीन मारा गया। चारों ओर खड़ी सेना ने शेर अफ़ग़ान को भी मार दिया। जहाँगीर ने शेर अफ़ग़ान पर क़ुतबुद्दीन को मारने का

अभियोग लगाकर उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली और मिहरुन्निसा और उसकी लड़की को महलों में रख दिया। मिहरुन्निसा का नाम नूरमहल रखा गया। प्रस्ताव उपस्थित होने पर नूरमहल ने अपने पति के घातक के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। छः साल तक मनाने के बाद नूरमहल नूरजहाँ के नाम से भारत की अधीश्वरी होकर गद्दी पर बैठी और उसने जहाँगीर के साथ शादी कर ली। जहाँगीर नूरजहाँ को सारा राज्य-पाट सौंपकर आप शराब पीने में मस्त रहता था। नूरजहाँ ने महल और सारे मुग़ल-साम्राज्य का भली प्रकार शासन किया। उसने अपने पिता और भाई को ऊँचे पदों पर बिठाया और भाई को आसफ़ख़ाँ की उपाधि दिलवाई।

नूरजहाँ चतुर और सुन्दर होने के साथ साथ विदुषी भी थी। फ़ारसी में बड़ी सुन्दर कविता करती थी। कला-शिल्प और सीना-पिरोना भी जानती थी। कहा जाता है कि वस्त्रों की नई नई काट, पचौलिया, किनारी फर्श, चाँदनी और जड़ाऊ आभूषण नूरजहाँ के कई आविष्कार हैं। गुलाब के फूलों का इत्र, पहले-पहल नूरजहाँ ने निकलवाया था। नूरजहाँ गुलाब के फूलों से सुवासित जल से नहाती थी। एक दिन बासी जल न फेंका गया। नूरजहाँ हम्माम में क्या देखती है, कि पानी पर तैल सा दीखता है। तब उसने समझ लिया, कि यह गुलाब का रस ही है। तब से वह पानी में गुलाब का इत्र डलवा कर नहाने लगी। वह घोड़े पर चढ़ना ऐसा अच्छा जानती थी, कि अच्छे अच्छे घुड़सवार दंग रह जाते थे।

बन्दूक का अचूक निशाना लगाती थी। इसके अतिरिक्त वह दिलेर और वीर स्त्री थी। विपत्ति से कभी भी नहीं घबराती थी।

इतने गुणों के साथ उसमें डाह बहुत ज़्यादा था। वह किसी की बात नहीं सह सकती थी। नूरजहाँ अपने दामाद शहरयार को गद्दी दिलाना चाहती थी, पर गद्दी का अधिकार खुर्रम-शाहजहाँ का था। शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। नूरजहाँ ने महावतख़ाँ को भेजकर शाहजहाँ को हरा दिया और क्षमा माँगने पर विवश किया। महावतख़ाँ की बढ़ती और उसके प्रभाव को फैलते देख कर नूरजहाँ ने महावतखाँ को पकड़वाना चाहा। महावतख़ाँ समझ गया। शाहजहाँ और महावतख़ाँ दोनों मिल गए। शाही सेना इन दोनों से हार गई। यहाँ तक कि सम्राट् जहाँगीर महावतखाँ के हाथ क़ैद हो गया। नूरजहाँ उसे लड़कर नहीं छुड़ा सकी इसलिए उसने आत्म-समर्पण कर दिया और जहाँगीर के साथ कैद हो गई। नूरजहाँ ने अपने चातुर्य और साहस से जहाँगीर को कारावास से छुड़ा दिया।

जहाँगीर के मरने के बाद शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। अब नूरजहाँ महलों में राज्य से सब प्रकार का सम्बन्ध त्याग कर रहने लगी। जहाँगीर नूरजहाँ के लिए कहा करता था, कि शराब के एक प्याले के बदले मैंने सारा राज्य इसको सौंप दिया है। नूरजहाँ के प्रयत्न से जहाँगीर की शराब पीने की आदत भी कम हो गई थी।

नूरजहाँ के मरने पर इसकी क़ब्र लाहौर में जहाँगीर के मक़बरे के पास बनवा दी गई। नूरजहाँ सी विलक्षण, तेज और शक्तिशाली स्त्रियाँ भारत के इतिहास में बहुत कम हुई हैं।

एक बार अल्तमश दक्षिण-भारत की ओर जा रहा था। राजधानी से पर्याप्त काल तक बाहर रहने का विचार था। अल्तमश ने अपने पीछे राज-काज का काम रज़िया पर छोड़ने का निश्चय किया। अधिकारिवर्ग इस निश्चय से सहमत नहीं हुए। वे नहीं चाहते थे कि एक स्त्री उन पर शासन करे। उनकी यही इच्छा थी कि कोई राजकुमार ही गद्दी पर आसीन हो। अंत में अल्तमश ने अपने दरबारियों से कहा—'मित्रो! राजकुमारों में से एक भी इस योग्य नहीं कि वह राज्य का भार सम्भाल सके। रज़िया बेटी है तो क्या हुआ, वह बीस बेटों के समान है।' यह सुनकर सब चुप हो गए। रज़िया अल्तमश के नाम से छः साल तक निरंतर राज्य करती रही। राज्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई। अल्तमश जब लौटा तो रज़िया ने राज्य अपने पिता को लौटा दिया।

अल्तमश के देहावसान के पीछे उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। अल्तमश रज़िया को ही राज्य देना चाहता था, पर मन्त्रिवर्ग अनुकूल नहीं था। वह राजपुत्र शराबी निकला। छः मास में सब तंग आ गए। फिर उसको गद्दी से उतार कर रज़िया को गद्दी पर बैठाया गया।

रज़िया ने १२३६ से १२३९ तक राज्य किया। वह दरबार में पुरुषों के वेश में आती, राज्य का काम-काज स्वयं देखती, प्रजा की प्रार्थनाएँ सुनती, उनके मुकद्दमों का स्वयं न्याय करती, युद्धों में हाथी पर चढ़कर सैन्य-संचालन करती। उसके राजसिंहासनासीन

होते ही कुछ सरदारों ने विद्रोह किया पर उसको उसने अपने चातुर्य और बल से दमन कर दिया।

रज़िया अविवाहिता थी। प्रत्येक सरदार चाहता था कि रज़िया उससे विवाह कर ले। पर रज़िया इनमें से किसी को न चुनकर एबिसीनिया के हब्शी सरदार जमालुद्दीन याकूत का दिन-प्रति-दिन आदर करने लगी। जमालुद्दीन बड़ा पराक्रमी और नीति-निपुण था। पर वह एक तो हब्शी था, दूसरे गुलाम रह चुका था। याकूत का आदर सरदार लोग सह न सके और भटिण्डे के सरदार अलतूनिया के नेतृत्व में सब ने मिलकर रज़िया के विरुद्ध पुनः विद्रोह कर दिया। रज़िया याकूत की बगल में घोड़े पर सवार होकर वीरता से लड़ी पर अंत में हार गई। याकूत मारा गया और रज़िया क़ैद कर ली गई। अलतूनिया ने एक दिन रज़िया से कहा—'यदि तुम मुझ से विवाह कर लो तो मैं तुम्हारी ओर से लड़ूँगा। रज़िया ने बात मान ली। पर इस बार भी रज़िया की हार हुई और दोनों को मार दिया गया।

इस प्रकार तीन वर्ष राज्य करने के बाद युवावस्था में ही रज़िया ने समय के प्रतिकूल होने के कारण संसार छोड़ दिया। रज़िया में सब गुण थे, पर वह स्त्री थी, और स्त्री के अधीन रहना उस युग में कल्पना से बाहर की बात थी। इस कारण उसकी योग्यता, प्रतिभा और शासन-चातुरी कोई भी देश के काम न आई।

रानी पद्मिनी

भारतीय महिलाओं में रानी पद्मिनी का स्थान बहुत ऊँचा है। हमारे देश में जब तक सतीत्व और वीरता की पूजा होगी, तब तक पद्मिनी की भी पूजा होती रहेगी। पद्मिनी केवल एक आदर्श सती वीर रमणी ही नहीं थी, वरन् एक चतुर और बुद्धिमान् महिला भी थी, जिसने अपने पति को कारावास से मुक्त कराकर अलाउद्दीन खिलजी जैसे धूर्त्त सम्राट् को नीचा दिखाया था।

मेवाड़ का राणा लक्ष्मणसिंह बालक था। उसकी जगह उसका चचा राणा भीमसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा। इसकी रानी पद्मिनी बहुत सुन्दरी थी। इसकी सुन्दरता की चर्चा घर-घर पहुँची हुई थी। दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन खिलजी पंजाब और गुजरात पर विजय प्राप्त कर चुका था। उसका सेनापति काफूर दक्षिण में कावेरी तक अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था। पर

राजपूताना अभी तक भी अपना स्वाधीन मस्तक ऊँचा किये खड़ा था। पद्मिनी के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर वह एक बड़ी सेना के साथ मेवाड़ पर चढ़ आया। मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ को ख़िलजी की सेना ने घेर लिया। राजपूत खूब वीरता से लड़े। अलाउद्दीन ने घोषणा कर दी कि यदि मुझे पद्मिनी के दर्शन करा दिये जायँ तो मैं वापस लौट जाऊँगा। राजपूत एक विधर्मी और म्लेच्छ को अपनी महारानी के दर्शन कराने के लिये तैयार न थे। राणा भीमसिंह ने देखा कि हमारी सेना थोड़ी है और नित्यप्रति युद्ध से कम होती जाती है। इस हानि को पूरा करने का कोई उपाय भी नहीं। ख़िलजी की सेना कम होती है तो दिल्ली से और सेना आ जाती है। यदि पद्मिनी के दर्शनमात्र से संग्राम टल सकता हो तो इतने प्राणों की आहुति देने से क्या लाभ? राणा ने कहला भेजा कि पद्मिनी १६ शीशों के पीछे से अपने दर्शन देने को तैयार है, पर अलाउद्दीन को अकेले और विना अस्त्र-शस्त्र के आना होगा। ख़िलजी राजपूतों के वचनों पर विश्वास करता था। वह जानता था—राजपूत प्राण दे देंगे पर अपना वचन नहीं खोयेंगे। वह निःशंक होकर चित्तौड़ के क़िले में चला आया। पद्मिनी उसे दिखा दी गई। देखने के बाद जब वह लौटा तो राणा भीमसिंह उसे छोड़ने के लिए चले। बातों ही बातों में ख़िलजी राणा को क़िले से बाहर अपने डेरों तक ले गया। वहाँ पहुँचकर राणा को क़ैद कर लिया गया और उस विश्वासघाती ने घोषणा करवा दी कि यदि पद्मिनी मुझे मिल जायगी तो राणा को मैं छोड़ दूँगा। रानी पद्मिनी घबराई नहीं। उसने ख़िलजी को झाँसा देने के

लिये एक उपाय सोचा। उसने कहला भेजा कि रानी आने को तैयार है, पर वह आयगी राजपूत महारानी की तरह अपनी सहेलियों और दासियों के साथ। ख़िलजी की मुँहमाँगी इच्छा पूरी हुई। इस शर्त को उसने मान लिया। रानी ने ६०० पालकियाँ और डोले सजाने के लिए आज्ञा दी। प्रत्येक में एक एक राजपूत योद्धा हथियारों से लैस होकर स्त्री-वेश में बैठ गया। उठाने वाले भी योद्धा राजपूत थे। प्रत्येक डोले को ६ राजपूत कहार बनकर उठा रहे थे। रानी इस तरह तैयार होकर ख़िलजी के डेरों की ओर चली। इन पालकियों के लिए अलग कनात लगी हुई थी, वहीं उतारी गईं। रानी ने कहला भेजा कि महलों में आने से पहले मुझे राणा से अन्तिम बार मिलने की आज्ञा दी जाय। यह प्रार्थना स्वीकृत हो गई और राणा के पहुँचते ही रानी पद्मिनी उनको साथ लेकर चित्तौड़ चल दी। दो घोड़े तैयार खड़े थे और वे दोनों घोड़ों पर चढ़ किले की ओर चल दिए। आधा घण्टा बीत गया। ख़िलजी घबराने लगा। और उसने तुरन्त पालकियों की तलाशी लेने की आज्ञा दी। इतने में राजपूत तलवारें निकाल खड़े हो गए। अलाउद्दीन घबरा गया। खूब डटकर घमासान युद्ध हुआ। गोरा और बादल अपार वीरता से लड़े। गोरा लड़ता हुआ मारा गया। इधर राणा भीमसिंह दुर्ग में पहुँच गये। मुसलमानों ने करारी हार की चपत खाई। युद्ध-क्षेत्र से जब बादल लौटा तो उसकी चाची चिता तैयार कर उसके आने की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने पूछा—'बेटा, कहो तुम्हारे चचा ने कैसी लड़ाई लड़ी ?' बारह वर्ष का बादल आवेश और उत्साह से बोला—'माँ, क्या बखान करूँ ? खेत

में किसान हँसुये से जैसे अनाज काटते हैं, वैसे ही चचा जी ने शत्रु-सेना को काट डाला। रणभूमि में शत्रुओं का ग़लीचा बिछा दिया और अब वे शाहज़ादे को तकिया बनाकर युद्ध-भूमि में सो रहे हैं।' गोरा की वीरपत्नी ने पूछा—'और कुछ बताओ।' वीर बादल बोला—'और क्या कहूँ? उन्होंने किसी शत्रु को न तो प्रशंसा करने के लिए और न डरने के लिए ही जीता छोड़ा है।' सूर्य भगवान् अस्त हो रहे थे। गोरा की पत्नी ने बादल को आशीर्वाद दिया और स्वयं चिता में भस्म हो गई।

महारानी कर्णावती

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के राजसिंहासन पर विक्रमाजीतसिंह बैठा। राणा और सरदारों में परस्पर अनबन थी। सब सरदार राणा से अप्रसन्न हो गए। मेवाड़ में अराजकता छाई हुई थी। उस समय गुजरात में बहादुरशाह शासन करता था। उसने मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए इस अवसर को बहुत अनुकूल समझा। हुमायूँ इस समय बंगाल में शेरशाह का पीछा कर रहा था। राणा सांगा ने बहादुरशाह को अनेक बार रण में पराजित किया था। इसलिए बहादुरशाह अपनी पुरानी हार का बदला चुकाने के लिए मेवाड़ पर चढ़ आया।

राणा विक्रमाजीत ने बहादुरशाह का चितौड़ के बाहर सामना किया। सरदारों ने राणा का साथ न दिया। इसलिए राणा हार गए। इस विजय से बहादुरशाह का साहस और भी बढ़ा। उसने आगे बढ़कर

चित्तौड़ को घेर लिया। मालवे के सुल्तान ने भी उसका साथ दिया। राजपूतों को अब अपनी भूल मालूम हुई और चित्तौड़ की रक्षा के लिए चारों ओर से सरदार और राजपूत आ जुटे। सब अपने भेद-भाव और वैर को भूलकर चित्तौड़ की रक्षा के लिए आ डटे। शत्रु ने सैकड़ों तोपें चित्तौड़ के दुर्ग पर खड़ी कर दीं और उस पर गोलाबारी आरम्भ की। राजपूत तोपों की लड़ाई पसन्द न करते थे। वे तो तलवरिया थे और घोड़े पर चढ़कर खुले हाथ सम्मुख तलवारें लेकर लड़ना जानते थे।

तोपों की गोलाबारी से क़िले का एक भारी भाग उड़ गया। दीवार के उड़ते ही सैकड़ों राजपूत वहाँ आ डटे पर एक-एक करके मारे गए। यहाँ तक कि माता जवाहरबाई भी लड़ते-लड़ते वहीं मारी गईं।

मेवाड़ की रक्षा का कोई उपाय न था। मुट्ठी-भर राजपूत क़िले में बच गए थे। रानी कर्णावती ने सोच-समझकर मेवाड़ की रक्षा के लिये अपने ब्राह्मण-पुरोहित के हाथ हुमायूँ के पास राखी (रखड़ी) भेजी। बाबर के पीछे हुमायूँ दिल्ली की गद्दी पर बैठा था पर दिल्ली में मुग़ल-साम्राज्य अभी जम न पाया था। शेरशाह और बहादुरशाह हुमायूँ के दो महान् शत्रु थे। पठान मुग़लों को भारत में नहीं रहने देना चाहते थे। हुमायूँ इन्हीं के दमन के लिये कभी गुजरात आता और कभी बंगाल दौड़ता था। जब कर्णावती ने हुमायूँ को राखी भेजी, उस समय वह शेरशाह का पीछा कर रहा था।

हुमायूँ ठीक समय पर मेवाड़ पहुँच नहीं सका। मेवाड़ के वीरों के सामने दो मार्ग थे—या तो वे लड़कर प्राण दे दें और स्त्रियाँ जौहर करें अथवा बहादुरशाह की अधीनता स्वीकार करें। मेवाड़ का रक्त ठंडा नहीं हुआ था। अधीनता जीते जी वे स्वप्न में भी स्वीकार करने के लिये तैयार न थे। राजपूतों ने केसरिया बाना पहन लिया। दूसरी ओर अन्तिम बार पिता, भाई और पति से गले मिलकर राजपूत-बालाएँ जौहर की तैयारी करने लगीं। टूटी दीवार से बाढ़ के पानी के समान क़िले में मुसलमान बढ़े चले आ रहे थे। ऐसे अवसर पर चिता बनाने का समय कहाँ था। पहाड़ी गुफ़ाओं में बारूद भर दी गई और १३००० राजपूतवीराङ्गनाएँ बारूद के ढेर पर खुशी खुशी पहुँच गईं। बीच में महारानी कर्णावती बैठी थीं। बारूद में वीराङ्गनाओं ने अपने हाथ से तीली दी। एक बड़े धड़ाके के साथ एक प्रकाश आकाश में उठा। उस लपक में १३००० वीर आत्माएँ जल गईं।

शेष राजपूत तलवारें लेकर भूखे शेर के समान मुसलमानों पर टूट पड़े। सैकड़ों को मारते हुए हर एक वीरगति को प्राप्त हुआ। और अन्त में बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। इस तरह चित्तौड़ की रक्षा में ३२००० राजपूत काम आये।

राखी का भारत में बहुत महत्त्व है। बहनें भाई को राखी बाँधती हैं और इसके बदले भाई अपनी जान देकर भी रक्षा का वचन देता है। हुमायूँ बंगाल में अपने पिता बाबर के शत्रु राणा सांगा की महारानी कर्णावती की राखी पाकर प्रसन्नता के मारे

फूला न समाया। वह अपनी धर्म-बहन और उसके पुत्र की रक्षा के लिये शेरशाह का पीछा छोड़कर आँधी के समान मेवाड़ की ओर बढ़ा। राखी पाकर उसने कहा—'यदि रानी को बचाने के लिये रणथम्भौर का क़िला और भी खोना पड़े, तो मुझे कुछ परवा नहीं।' पर जब हुमायूँ मेवाड़ पहुँचा; सब काम समाप्त हो चुका था। चिताएँ शान्त हो गई थीं ? पर हुमायूँ अपने बन्धुत्व का परिचय दिए बिना कहाँ मानने वाला था। उसने बहादुरशाह और मालबे की सेना को चितौड़ से मार भगाया, मालवा और गुजरात जीत लिए और मांगढ़ में बड़ी शान के साथ विक्रमाजीत को गद्दी पर बिठाया। इस प्रकार हुमायूँ ने सच्चे भाई की तरह अपनी धर्म-बहन कर्णावती का स्मृति-तर्पण कर संसार में अपूर्व यश प्राप्त किया।

पन्ना दाई

स्वामि-भक्ति और आत्मज्ञान का जैसा अनुपम उदाहरण पन्ना ने अपने जीवन से संसार के सम्मुख रखा है, वैसा दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास में मिलना कठिन है। राजपूत-बाला पुरुषों से किसी अंश में भी कम नहीं। समय आने पर उदारता, वीरता और धैर्य एवं उत्साह के साथ वह अत्यन्त हर्षपूर्वक अपना सर्वस्व अर्पण कर सकती है। यह बात पन्ना के जीवन से सुस्पष्ट होती है।

महाराणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की गद्दी पर विक्रमाजीतसिंह बैठा। पर वह बड़ा अत्याचारी था। सब सरदार उससे अप्रसन्न हो गए। इसलिए उन्होंने उसे गद्दी से उतारकर वनवीर को गद्दी पर बिठाया। इस समय मेवाड़ का वास्तविक उत्तराधिकारी उदयसिंह केवल छः वर्ष का था। वनवीर राज्य पाकर

मदान्ध हो गया और कर्म तथा अकर्म को भूल गया। वह सोचने लगा—'किस प्रकार मेवाड़ की गद्दी मेरे वंश में ही रहे।' विक्रमाजीत और उदयसिंह को मारे विना यह हो नहीं सकता था। इस इच्छा की पूर्ति के लिये वनवीर एक अँधेरी रात में तलवार लेकर महलों की ओर चल पड़ा।

उदयसिंह दूध-भात खाकर पलंग पर सो रहा था। पास ही पन्ना दाई बैठी थी। दूसरे एक पालने पर पन्ना का लड़का सो रहा था। पन्ना मातृ-स्नेह से कभी कुमार और कभी अपने पुत्र की ओर देखती थी और चूम लेती थी। इसी समय उसे महल के दूसरे भाग से एक भयंकर और दारुण चीख़ उठती हुई सुनाई दी। स्त्रियों के रोने का शब्द सुनकर पन्ना चौंकी और भेद जानने के लिये उधर दौड़ी। उसी समय महलों से एक पुराना नौकर, जो जाति का नीच था, जूठे बर्तन लेने के बहाने दौड़ा हुआ उस ओर आता दिखाई दिया। पन्ना भयभीत हो गई और उसने पूछा—'क्या बात है'। नौकर ने जल्दी से कहा कि वनवीर इधर ही तलवार लिए हुए आ रहा है। सावधान हो जाओ! पन्ना का कंठ सूख गया। पर सोचने के लिए अधिक समय नहीं था। उसने उसी समय कुमार के हाथ से कंगन और गले से माला निकालकर अपने पुत्र को पहना दिए और उसे पलंग पर लिटा दिया। फलों की एक ख़ाली टोकरी में कुमार को रख ऊपर से पत्तों से ढककर उसी नौकर को टोकरी देकर कहा—'जल्दी से महलों के बाहर चला जा। मैं भी वहीं आकर मिलूँगी।' पन्ना यह कहकर वनवीर के आने की प्रतीक्षा करने लगी।

पन्ना के हृदय में जो आँधी और तूफ़ान चल रहा था, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? जान-बूझकर अपने दुध-मुँहे बच्चे को तलवार की भेंट कर देना हँसी-मज़ाक नहीं । इसके लिये हृदय की अनुपम दृढ़ता, वीरता और साहस चाहिए । उमड़ते हुए आँसुओं और हृदय के प्रबल वेग को रोके हुए पन्ना बैठी थी। इसी समय वनवीर हाथ में नंगी तलवार लपलपाता हुआ अन्धकार को और भी अधिक घना बनाता हुआ वहाँ पहुँचा। वनवीर की मुखाकृति इस समय बड़ी डरावनी और भयङ्कर रूप धारण किये हुए थी। आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं । वह दाँत पीस रहा था । उसको इस समय इस दशा में देखकर वीर पुरुष का भी काँप जाना सम्भव था।

हवा के तेज़ झोंके के समान वनवीर राजकुमार के कमरे में घुसा और तीक्ष्ण स्वर में पूछा—'उदयसिंह कहाँ है ?' पन्ना वनवीर का यह प्रश्न सुनकर स्तब्ध रह गई; बोली नहीं । दुबारा फिर वनवीर ने पैर पटककर पूछा—'बोलती क्यों नहीं, राजकुमार कहाँ है ?' पन्ना ने उमड़ते हुए आँसुओं और धड़कते हृदय के प्रबल वेग को रोककर अपना मुँह फेर लिया और अँगुली से पलंग पर लेटे हुए अपने पुत्र की ओर संकेत कर दिया।

वनवीर ने न देखा, न भाला और तुरंत तलवार के एक ही प्रहार से बालक का काम-तमाम कर दिया। महल में कुहराम मच गया। पन्ना महल के कुहराम के बीच ही चुपके से महल के बाहर हो गई और अपने अधूरे काम को पूरा करने के लिए चल पड़ी।

उसे नागरिकों की इस कायरता पर बड़ा दुःख हुआ। परंतु जोश से बहुत शीघ्र उसकी आँखों में खून उतर आया और घोड़े पर सवार होकर वह उनको रोकने के लिये दुर्ग के द्वार की ओर चल पड़ी।

जिस समय नागरिक अपनी स्त्रियों और बच्चों को लेकर दुर्ग द्वार पर एकत्रित हो रहे थे, उस समय महारानी ने आकर द्वार रोक लिया और सिंहनी की भाँति गरजकर कहा—'क्या स्वार्थी संसार का यही रूप है?' महारानी के इन वाक्यों ने सब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अवसर देखकर महारानी ने पुनः कहना प्रारम्भ किया—

'नागरिको! अभी तो मैं जीवित हूँ। शत्रु ने अभी मेरी छाती पर पैर नहीं रखा! तुम ने समझा होगा कि राणा की मृत्यु हो जाने से शायद महारानी भी मर गई है। क्या तुम क्षत्राणियों का दूध पीकर नहीं पले, जो तुम्हारे मन में इस तरह के कायरपन के विचार आ रहे हैं? राज-संकट के समय इस तरह भाग जाना क्या तुम्हें शोभा देता है? अपनी इन वीर-प्रसूता स्त्रियों को तुम लोग कहाँ भेज रहे हो? क्या वीर पद्मिनी की वीरता के राग गाने वाली स्त्रियाँ यही हैं? कुछ तो लज्जा करो! अपनी मातृ-भूमि को संकट में छोड़कर चले जाने से उत्तम यही है कि चुल्लू भर पानी में डूब मरो!'

राजमाता के इन उत्तेजनापूर्ण शब्दों को सुनकर नागरिकों की आँखें लज्जा से नीचे को झुक गईं। पद्मिनी का ध्यान आते ही राजपूत क्षत्रियों के अंग फड़कने लगे। सब ने अपनी म्यानों से

तलवारें निकालकर एक स्वर से कहा—'राजमाता की जय ! वीर जननी महारानी की जय !!' और इसके बाद सब नागरिक अपने अपने घरों को लौट गए। राजमाता को और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह अपना कर्तव्य पालन कर तुरन्त महलों को लौट गईं।

कुछ ही समय के पश्चात् राजमाता के महलों के सम्मुख नागरिकों की भीड़ लगनी प्रारम्भ हुई। देखते देखते वहाँ नरमुण्डों का समुद्र-सा लहराने लगा। सभी नागरिक आवेश से भरे पड़े थे। प्रत्येक नागरिक सैनिक वेष धारण किये हुए था और प्रत्येक सैनिक की तलवार शत्रुओं का रुधिर पान करने को लालायित हो रही थी। केवल राजमाता की आज्ञा की प्रतीक्षा थी। इसी समय राजमाता मुस्कराती हुई बाहर आईं। उन्हें देखकर प्रत्येक सैनिक के मन में जोश का समुद्र ठाठें मारने लगा। राजपूतों के इस उत्साह को देखकर राजमाता ने कहा—'जाओ वीरो ! चित्तौड़ देवी तुम्हारा भला करें। मैं यहाँ एक स्त्री सेना लेकर दुर्ग की रक्षा के लिये खड़ी रहूँगी और तुम अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करो।'

आज्ञा पाते ही संपूर्ण चित्तौड़ 'हर हर महादेव' के नारों से प्रतिध्वनित हो उठा और सभी सैनिक रणभूमि की ओर चल पड़े।

यद्यपि चित्तौड़ के नागरिक वीर थे, परन्तु संख्या में कम होने के कारण वे बाबर की असंख्य सेना के सम्मुख ठहर न सके।

फिर भी युद्ध से डरकर वे लोग घर की ओर न लौटे। सभी नागरिक लड़ते-लड़ते रणभूमि में ही वीरगति को प्राप्त हो गए। अपनी विजय पर प्रसन्न होता हुआ बाबर राजपूतों के शवों को कुचलता हुआ चित्तौड़ के क़िले के द्वार पर आ पहुँचा।

उधर नंगी तलवारें हाथों में लिये सैकड़ों रणरंगिणी राजपूत वीराङ्गनाएँ श्रेणीबद्ध हुई महारानी की प्रतीक्षा कर रही थीं। सभी के वस्त्र लाल थे।

युद्ध होते होते दो दिन व्यतीत हो चुके थे। युद्ध के समाचारों से नगर में जब यह विदित हुआ कि बहुसंख्यक राजपूत सैनिक समर में धाराशायी हो चुके हैं, तो महारानी की आज्ञा से चित्तौड़ को बालक-बालिकाओं से ख़ाली कर दिया गया। सुरंग के मार्ग से उन्हें लोहगढ़ के सुरक्षित क़िले में पहुँचा दिया गया। रावल बाघ जी इन बालक-बालिकाओं के संरक्षक नियुक्त हुए। महारानी ने यह प्रण कर लिया कि यदि चित्तौड़ स्वतन्त्र हो गया तो ठीक अन्यथा जौहर व्रत की प्रथा पूर्ण की जायगी। इस राजपूत-रत्न चित्तौड़ को शत्रुओं द्वारा पद-दलित होने देने की अपेक्षा उसे एक श्मशान-भूमि में परिणत कर देना अधिक उपयुक्त समझा गया।

महारानी के आते ही वीराङ्गनाओं ने अपनी विद्युत्-सम चमकती तलवारों को ऊपर उठाया। तत्पश्चात् सब की सब भैरवी रूप धारण कर दुर्ग-प्राचीरों पर चढ़ गईं। सर्वप्रथम उन्होंने बाप्पा रावल के समय की आकाश-चुम्बिनी पताका को प्रणाम

किया और फिर राजमाता की आज्ञानुसार वे दुर्ग के चारों ओर फैल गईं।

अगले दिन सूर्योदय होते ही महारानी ने देखा कि बाबर के सैनिक अपनी तोपों के मुँह क़िले की ओर फिराकर उसे विध्वंस करने का यत्न कर रहे हैं। वे तत्काल शिखर से उतर आईं और शीघ्र-गामी घोड़ों पर चढ़कर शत्रु-सेना की ओर भागीं और आकर एक घने झुरमुट में छिप रहीं। जिस समय शत्रु अपना मोरचा सजाकर लौट रहे थे, ठीक उसी समय एक बड़ा भीषण संकेत-शब्द हुआ। उसी के साथ तीरों की धुआँधार वर्षा होनी प्रारंभ हुई। शत्रु कटे हुए वृक्षों की भांति पृथ्वी पर गिरने लगे। एक भी गोलन्दाज़ जीवित न बचा! बात की बात में तोपों पर राजमाता का अधिकार हो गया। कुछ ही क्षणों में तोपें क़िले पर चढ़ा ली गईं।

जब बाबर सेना-सहित क़िले पर चढ़ने के लिए पहुँचा तो उस पर दनादन गोलों की वर्षा होने लगी। सामने से तोप के गोलों की और पीछे से तीरों की वर्षा होने के कारण शत्रु-सेना बीच में ही घिर गई।

चित्तौड़ के दुर्ग को विध्वंस करने के लिए बाबर के सैनिकों ने कुछ तोपें गुप्त रूप से पहले ही शिखरों पर जमा दी थीं। बाबर ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि वे इन मोरचों पर जाकर दुर्ग को तोपों से उड़ा दें। गोलन्दाज़ बढ़े ही थे कि रक्तवर्ण पोशाक पहने प्रायः दो हज़ार राजपूतनियाँ 'जय काली!' कहती हुई पहाड़ों की गुफ़ाओं से निकल पड़ीं। उनके आगे-आगे राजमाता जवाहरबाई

साक्षात् रणचण्डी की अवतार प्रतीत होती थीं। राजमाता की आज्ञा से दुर्ग पर से भी गोलों तथा बाणों की वर्षा होने लगी। स्त्रियों का यह साहस देखकर राजपूतों में भी पुनः जीवन और उत्साह का संचार हो गया। वे भी पुनः युद्ध-क्षेत्र में आ डटे और बाणों की झड़ी बाँध दी। उसके बाद राजमाता की इस स्त्री-सेना ने आकर तो युद्ध में और भी भयंकरता ला दी। बड़ा विकट युद्ध हुआ। पर्वतों की वे घाटियाँ शत्रुओं के रुधिर से भली प्रकार रँग दी गईं।

उस दिन बाबर को मालूम हुआ कि केवल राजपूत ही वीर नहीं हैं, प्रत्युत उनकी स्त्रियों में भी अपूर्व तेज है। तब उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप होने लगा। अपनी सेना को भागते देखकर बाबर ने हथियार रख दिए और राजमाता से क्षमा के लिए प्रार्थना करने लगा।

राजमाता जितनी वीर थी, उतनी ही उदार भी थी। उसने बाबर को क्षमा कर दिया। वीरवर बाबर को बड़े आदरपूर्वक अपने पास बुलाकर राजमाता ने उससे यह प्रण करवाया कि भविष्य में वह कभी चित्तौड़ पर आक्रमण न करेगा। जब तक महारानी जवाहर जीवित रही, बाबर ने कभी चित्तौड़ पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया।

मनुष्य-जाति के इतिहास में रानी जवाहर के समान वीर चरित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं।

शब्दार्थ

पृष्ठ

११ ढोर–पशु; गाय, भैंस आदि
तन्मयता–तल्लीनता
बहुधा–अकसर, ज़्यादेतर

१२ अलौकिक–अद्‌भुत, दिव्य
आकाश-वाणी–आकाश में शब्द, देवगिरा
आभास–झलक, संकेत
कल्पना–मनगढंत बात, अवास्तविक ख़याल

१३ आघात–चोट, धक्का
राज्याभिषेक–राजतिलक

१४ साक्षात्कार–दर्शन

१५ तत्त्वविवेचन–यथार्थ की जाँच

१५ मधुरतर–अति मीठी
हतवीर्य–बलहीन
समारोह–सजधज, बृहदायोजन
पौरजन-नगर-निवासी

१६ देवदूत–देवता का दूत, फ़रिश्ता

१७ परिणामतः–परिणाम से, आख़िरकार
खेत रहे थे–मारे गए थे

१८ काल्पनिक–मनगढन्त, मिथ्या
कलरव–मृदु मधुर स्वर

१९ अनुनयविनय–प्रार्थना
आहत–घायल

२० पर्यवेक्षण–अच्छी तरह देखना
यातना–दुःख-भोग
प्रतारणा–धूर्तता
दण्डपाशिक–सूली देने वाला, जल्लाद
२१ विकराल–डरावना
२२ प्रतिमा–मूर्ति
२४ आत्मत्याग–आत्मोत्सर्ग, आत्मबलिदान
२६ सेवा-शुश्रूषा–सेवा-टहल, ख़िदमत
२७ परोपकारशीलता–परोपकार करने की बान
२८ उपचर्या–चिकित्सा, सेवा
३० उपचारविधि–चिकित्सा-विधि, इलाज
३१ सहानुभूति–हमदर्दी
मुद्रा–आकृति, झलक
नियंत्रण–शासन, नियम के अनुसार चलाना
३५ कर्तव्य-निष्ठा–करने योग्य काम में तत्परता
३७ शिविका–डोली
३८ दुर्दान्त–अशान्त, भीषण
३९ ललना–स्त्री
क्षत-विक्षत–लहूलुहान, घायल
शल्य-वैद्य–अस्त्रचिकित्सक, चीर फाड़ का इलाज करने वाला
४० छिद्रान्वेषी–परदोषदर्शी, दूसरों की बुराइयों को ढूँढने वाला, दुष्ट
४१ महासंकट–कष्ट
४३ सन्तोषप्रद–प्रसन्न करने वाली
संकल्प–विचार
४४ नृशंस–निर्दय, क्रूर
४५ उत्कट–बड़ी
सारगर्भित–ठोस, सारपूर्ण
४६ वीरगति को प्राप्त हुए–युद्ध में मरे
४८ विनीतरूप–विना धूम धाम के
५० विलासिता–भोग विलास
५१ आपत्ति–आक्षेप, ऐतराज़
५४ विद्रोह–ग़दर
धारणा–निश्चय
५५ व्यथित–दुःखी
५८ धारा–लहर
परिस्थितियों–अवस्थाओं

५६ आस्तिकता–ईश्वर पर विश्वास
६१ पुरस्कार–इनाम
श्रमिकों–मज़दूरों
६२ विकसित–परिमार्जित, शुद्ध
६४ धन-राशि–धनसमूह
उदाहरण–दृष्टान्त
६५ समर–युद्ध
६६ समारोह–धूमधाम, भीड़
६६ सभानेत्री–प्रधान
७० उग्र–तीक्ष्ण
सार्वजनीन–सब मनुष्यों का
७१ निर्भीकता–निडरपन
७३ वीरांगना–बहादुर स्त्री
विज्ञान–साइंस
आविष्कार–ईजाद
अनुसंधान–खोज
ढर्रे–ढंग
७४ आयोजना–तैयारी
७५ मरुस्थल–रेतीली भूमि
गुप्तचर–खुफिया पुलिस, भेदिया
७६ प्रतिभा–प्रखर बुद्धि
७८ कला-कलाप–कलाओं का समूह
नैसर्गिक–स्वाभाविक
७६ विश्लेषण–पृथक् पृथक् करना
८० सिद्धान्त-निरूपण–सिद्धान्त का निर्णय
८२ दंपती–पतिपत्नी का जोड़ा
पराकाष्ठा–अन्तिम सीमा
समिति–कमेटी
८३ सांत्वना–ढारस, तसल्ली
८५ आहत–घायल
उपकरण–सामग्री
८६ समस्या–पहेली
८७ चमत्कार–अचंभा, करामात
८६ दासता–पराधीनता
अवनति–अधोगति, पतन
गर्त–गढ़ा
विस्मरण–भुला देना
ज्वलन्त–उज्ज्वल, प्रकाशमान
गृहस्थायी–घर में रहने वाले
६० अनुल्लंघनीय–न लाँघी जाने योग्य
पर्वतमालाएँ–पहाड़ों की कतारें
रत्न-प्रसू–रत्नों को पैदा करने वाली
निखिल-रस-निर्भरा–सब रसों

से भरपूर
शस्यश्यामला–धानों से हरी-भरी
भारतवसुन्धरा–भारतभूमि
प्रगतिशील–उन्नतिशील
अभिभूत–पराजित, विचलित
उद्बोधन–ज्ञान
९१ भ्रान्ति-मूलक–भ्रमजनक, मिथ्या
क्षितिज–दृष्टि की पहुँच पर, वह वृत्ताकार घेरा, जहाँ पृथ्वी और आकाश दोनों मिले हुए जान पड़ें
९२ आनन्द-निष्यन्दिनी–आनंद का स्रोत बहाने वाली
९३ कर्मण्यता–कार्यकुशलता, कार्यतत्परता
तुच्छ–निकम्मा, हीन
दिव्य–स्वर्गीय, उत्तम
९४ प्रतिरोध–रुकावट, विघ्न
९५ मृदुल–कोमल
९६ पाणि-ग्रहण–विवाह
विकसित–खिला हुआ
शीतरश्मि–चन्द्रमा, चाँद
प्रेम-पाश–प्रेमबन्धन
९६ सम्पर्क–संबंध, मेल
९७ उर्वरा–उपजाऊ
अवशेष–नष्ट होने से बचे हुए प्राचीन चिह्न
९८ पद-वन्दना–चरणवन्दना
९९ प्रतिबिम्ब–परछाहीं
१०३ रजोविकीर्ण–धूल से मलिन, धूलिधूसरित
१०७ परमधाम–स्वर्ग, मोक्ष
११० विकलता–घबराहट
अनवरत–लगातार
विरह-मग्न–वियोग में डूबी हुई
११६ सारथी–रथ चलाने वाला
तपोभ्रष्ट–तप से च्युत
११७ निर्वाण–मोक्ष
परिपाटी–रीति
११८ काषायवस्त्रधारी–गेरुए कपड़े पहने हुए
१२१ प्रादुर्भाव–उत्पत्ति
भावुक–जिस पर भावों का जल्दी प्रभाव पड़े
१२४ परिणामतः–फलस्वरूप
१२५ भक्ति-नाटक–भक्ति का नाटक, प्रदर्शन, स्वाँग
१२६ बरजी–मना की गई

१२६ सीस–सिर
सुमिरण–स्मरण, चिन्तन
बोल–निन्दावचन
सरण–शरण, आसरा
चरणोदक–चरणजल, पादोदक
१२७ सुखनिधान–सुख की खान
मिताई–मित्रता
१२८ आश्वासन–धैर्य
वैदेही–सीता
उपासना–पूजा
१२९ जर्जरित–छलनी
विश्वमोहिनी–संसार को मोह लेने वाली
मन्दाकिनी–गंगा
१३० परस–स्पर्शकर
१३२ कटक–सेना
राशियाँ–ढेर
१३४ प्रौढयौवना–भर जवानी
१३५ निर्भीके–निर्भय
अनित्यभावना–संसार अनित्य है, ऐसे विचार
त्वरित–जल्दी ही
१३६ देहली–चौखट
१३७ अध्यवसाय–विचार
अभिग्रह–संकल्प
प्राशुक–निर्दोष, ऐसा अचित्त आहार जिसमें लेने वाले को उसकी तैयारी में हुए पाप का किंचिन्मात्र भी दोष न लगे
पारणा–व्रत के अन्त का भोजन
कोटि–करोड़
सुनइयों–सोने के सिक्कों
दिव्य–प्रधान
केवल ज्ञान–सर्वज्ञता
श्राविका–सव्रत गृहस्थिनी
बाकुले–घोड़ों के भोज्य, भीगे हुए चने
१३८ छद्मावस्था–सर्वज्ञता से पूर्व की अवस्था
ईशानकोण–पूर्व और उत्तर के बीच का कोना
कायोत्सर्ग–ध्यान
गोदुह आसन–योगियों के ८४ प्रकार के आसनों में एक

शुदी-शुक्लपक्ष
सर्वज्ञता-सब कुछ जानने देखने वाला
अनंतज्ञान-केवल ज्ञान, सर्वज्ञता
१३६ उपलब्धि-प्राप्ति
१४१ प्रतिपादन-सप्रमाण कथन, भली भाँति समझाना
विदुषी-पण्डिता, बहुत विद्या पढ़ी हुई
पाण्डित्य-पण्डिताई, विद्वत्ता, उच्च शिक्षा
प्रदर्शक-दिखाने वाला
१४२ धुरन्धर-सर्वश्रेष्ठ, उच्च कोटि के
मध्यस्थ-विवाद का निर्णय करने वाला, पंच
स्पर्धा-दूसरे को हराने की इच्छा, बराबरी, होड़, संघर्ष
१४३ अध्यवसाय-उत्साह
स्तम्भित-हैरान
किंचिन्मात्र-थोड़ा भी, कुछ भी
१४३ अवधि-मियाद
हठयोग-योग संबंधी एक विधान
१४४ अनुसरण-अनुगमन, अनुकूल आचरण
१४५ महत्त्वाकांक्षा-उच्चाभिलाषा
मरुस्थल-निर्जल प्रदेश, रेतीली भूमि
१४६ प्रबन्धकर्त्ता-मैनेजर
१४७ विद्रोह-बग़ावत
१४८ अभियोग-अपराध, जुर्म
घातक-हत्यारा
अधीश्वरी-स्वामिनी, सम्राज्ञी
हम्माम-स्नानागार
१४९ कारावास-क़ैद
१५१ व्यवस्था-प्रबन्ध
१५२ पर्याप्त काल-बहुत समय
अधिकारिवर्ग-मन्त्री आदि उच्च कर्मचारी
देहावसान-देहान्त
सैन्य-संचालन-सेना का परिचालन, सेना को चलाने की क्रिया, फ़ौज की परेड आदि

१५२ राजसिंहासनासीन–राजगद्दी पर बैठना
१५५ आधिपत्य–स्वामित्व
१५६ लावण्य–सुन्दरता
१५७ आवेश–जोश
बखान करूँ–कहूँ
१५६ अराजकता–राजा का अभाव सा
१६० तलवरिया–तलवार से लड़ने वाले
१६५ मदान्ध–नशे से अन्धा
१६५ दुध-मुँहे–दूध पीने वाले बालक
१६७ नरकेसरी–नरों में सिंह, वीर
कन्दरा–गुफ़ा
१६८ नागरिक–नगरवासी
१६८ कायरता–भीरुता, डरपोकपन
१६६ प्रतिध्वनित हो उठा–गूँज उठा
१७० रणरंगिणी–युद्धरूपी नाटक में खेलने वाली
श्रेणीबद्ध–कतार बाँध कर
धराशायी–ज़मीन पर सोये हुए, मृत
दुर्ग-प्राचीर–क़िले के चारों ओर की दीवार
आकाश-चुम्बिनी–आकाश को चूमने वाली, सुदूर आकाश तक फहराने वाली, अति ऊँची
१७१ विध्वंस–नाश
संकेत–इशारा, चिह्न
शिखर–चोटी

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१३	झिलमलाती हुई	झिलमिलाती हुई
२४	१८	अपनी	अपने
६६	२१	गइ	गईं
७५	१	वज्ञानिक	वैज्ञानिक
७८	२	एकगुण	एक गुण
७८	१४	Rentgen	Röntgen
६६	१०	स्वयवर	स्वयंवर
१०३	५	रजोविकींण	रजोविकीर्ण
१२१	१२	कवियित्री	कवयित्री
१७०	१०	धाराशायी	धराशायी